

Chapter पाँच

मैत्रेय से विदुर की वार्ता

श्रीशुक उवाच

द्वारि द्युनद्या ऋषभः कुरूणां
मैत्रेयमासीनमगाधबोधम् ।

क्षत्तोपसृत्याच्युतभावसिद्धः

पप्रच्छ सौशील्यगुणाभितृप्तः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; द्वारि—उद्गम पर; द्यु-नद्याः—स्वर्गलोक की गंगा नदी; ऋषभः—श्रेष्ठ; कुरूणाम्—कुरुओं के; मैत्रेयम्—मैत्रेय से; आसीनम्—बैठे हुए; अगाध-बोधम्—अगाध ज्ञान का; क्षत्ता—विदुर ने; उपसृत्य—पास आकर; अच्युत—अच्युत भगवान्; भाव—चरित्र; सिद्धः—पूर्ण; पप्रच्छ—पूछा; सौशील्य—सुशीलता; गुण-अभितृप्तः—दिव्य गुणों से तृप्त ।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : इस तरह कुरुवंशियों में सर्वश्रेष्ठ विदुर, जो कि भगवद्भक्ति में परिपूर्ण थे, स्वर्ग लोक की नदी गंगा के उद्गम (हरद्वार) पहुँचे जहाँ विश्व के अगाध विद्वान महामुनि मैत्रेय आसीन थे। मद्रता से ओत-प्रोत में पूर्ण तथा अध्यात्म में तुष्ट विदुर ने उनसे पूछा।

तात्पर्य : विदुर पहले से अच्युत भगवान् की शुद्ध भक्ति करने के कारण परिपूर्ण थे। भगवान् तथा जीव स्वभावतः गुणात्मक दृष्टि से एक है, किन्तु मात्रा की दृष्टि से भगवान् किसी भी प्राणी से बहुत विशाल हैं। वे सदा अच्युत हैं, जबकि जीव माया के अधीन होने के कारण किसी समय भी डगमगा सकते हैं। विदुर पहले ही अच्युत-भाव होने के कारण बद्धजीव के पतनशील स्वभाव (च्युत) को लाँघ चुके थे। जीवन की यह अवस्था अच्युत-भाव-सिद्ध कहलाती है अर्थात् भक्ति द्वारा सिद्धि-प्राप्त अवस्था। इसलिए जो कोई भी भगवद्भक्ति में लीन रहता है, वह मुक्तात्मा है और उसमें सारे प्रशंसनीय गुण रहते हैं। विद्वान ऋषि मैत्रेय हरद्वार में गंगा के तट पर एकान्त स्थान में बैठे थे और विदुर जो भगवान् के पूर्ण भक्त थे तथा समस्त दिव्य सद्गुणों से युक्त थे, जिज्ञासावश उनके पास पहुँचे।

विदुर उवाच

सुखाय कर्माणि करोति लोको

न तैः सुखं वान्यदुपारमं वा ।

विन्देत भूयस्तत एव दुःखं

यदत्र युक्तं भगवान्वदेन्नः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

विदुरः उवाच—विदुर ने कहा; सुखाय—सुख प्राप्त करने के लिए; कर्माणि—सकाम कर्म; करोति—हर कोई करता है; लोकः—इस जगत में; न—कभी नहीं; तैः—उन कर्मों के द्वारा; सुखम्—कोई सुख; वा—अथवा; अन्यत्—भिन्न रीति से; उपारमम्—तृप्ति; वा—अथवा; विन्देत—प्राप्त करता है; भूयः—इसके विपरीत; ततः—ऐसे कार्यों के द्वारा; एव—निश्चय ही; दुःखम्—कष्ट; यत्—जो; अत्र—परिस्थितिवश; युक्तम्—सही मार्ग; भगवान्—हे महात्मन्; वदेत्—कृपया प्रकाशित करें; नः—हमको।

विदुर ने कहा : हे महर्षि, इस संसार का हर व्यक्ति सुख प्राप्त करने के लिए सकाम कर्मों में प्रवृत्त होता है, किन्तु उसे न तो तृप्ति मिलती है न ही उसके दुःख में कोई कमी आती है। विपरीत इसके ऐसे कार्यों से उसके दुःख में वृद्धि होती है। इसलिए कृपा करके हमें इसके विषय में हमारा मार्गदर्शन करें कि असली सुख के लिए कोई कैसे रहे ?

तात्पर्य : विदुर ने मैत्रेय से कुछ सामान्य प्रश्न पूछे, किन्तु उनका मूल अभिप्राय यह नहीं था। उद्धव ने विदुर से मैत्रेय मुनि के पास जाकर भगवान् के नाम, यश, गुण, रूप, लीलाओं, पार्षद इत्यादि के सारे सत्त्यों के विषय में जिज्ञासा करने के लिए कहा था, अतएव जब विदुर मैत्रेय के पास पहुँचे तो उन्हें केवल भगवान् के विषय में पूछना चाहिए था। किन्तु स्वाभाविक विनयशीलतावश उन्होंने एक दम भगवान् के विषय में नहीं पूछा, प्रत्युत ऐसे विषय पर प्रश्न पूछा जो जनसामान्य के लिए अत्यधिक महत्त्व का हो सकता था। कोई सामान्य मनुष्य भगवान् को नहीं समझ सकता। सर्वप्रथम, उसे माया के वशीभूत अपने जीवन की असली स्थिति जाननी चाहिए। मोह में आकर मनुष्य सोचता है कि वह मात्र सकाम कर्मों के द्वारा सुखी हो सकता है, किन्तु होता यह है कि मनुष्य कर्म तथा कर्म-फल के जंजाल में और अधिक उलझता जाता है और जीवन की समस्या का कोई समाधान नहीं खोज पाता। इस सन्दर्भ में एक सुन्दर गीत है “जीवन का सारा सुख प्राप्त करने की महती इच्छा के कारण, मैंने यह घर बनाया किन्तु दुर्भाग्यवश सारी योजना ध्वस्त हो गई, क्योंकि घर में अप्रत्याशित रूप से आग लगा दी गई।” प्रकृति का नियम ऐसा ही है। हर व्यक्ति भौतिक जगत में योजना बनाकर रहने से सुखी बनना चाहता है, किन्तु प्रकृति का नियम इतना क्रूर है कि यह उस योजना में आग लगा देता है। सकामकर्मी अपनी योजनाओं से सुखी नहीं रहता, न ही सुख के लिए उसकी निरन्तर दौड़धूप से उसे कोई तृप्ति मिलती है।

जनस्य कृष्णाद्विमुखस्य दैवा-
 दधर्मशीलस्य सुदुःखितस्य ।
 अनुग्रहायेह चरन्ति नूनं
 भूतानि भव्यानि जनार्दनस्य ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

जनस्य—सामान्य व्यक्ति की; कृष्णात्—भगवान् कृष्ण से; विमुखस्य—विमुख, मुँह फेरने वाले का; दैवात्—माया के प्रभाव से; अधर्म-शीलस्य—अधर्म में लगे हुए का; सु-दुःखितस्य—सदैव दुखी रहने वाले का; अनुग्रहाय—उनके प्रति दयालु होने के कारण; इह—इस जगत में; चरन्ति—विचरण करते हैं; नूनम्—निश्चय ही; भूतानि—लोग; भव्यानि—अत्यन्त परोपकारी आत्माएँ; जनार्दनस्य—भगवान् की।

हे प्रभु, महान् परोपकारी आत्माएँ पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की ओर से पृथ्वी पर उन पतित आत्माओं पर अनुकंपा दिखाने के लिए विचरण करती है, जो भगवान् की अधीनता के विचार मात्र से ही विमुख रहते हैं।

तात्पर्य : परमेश्वर की इच्छाओं के प्रति आज्ञाकारी होना हर जीव की स्वाभाविक स्थिति है। किन्तु विगत दुष्कर्मों के कारण ही जीव भगवान् की अधीनता के विचार से मुख मोड़ता है और भौतिक संसार के सारे कष्टों को भोगता है। किसी को भगवान् श्रीकृष्ण की भक्तिमय सेवा के अलावा कुछ भी नहीं करना होता है। अतएव भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति के अतिरिक्त कोई भी कार्य न्यूनाधिक परम इच्छा के विरुद्ध कार्य है। समस्त सकाम कर्म, अनुभवगम्य दर्शन तथा योग भगवान् की अधीनता-भावना के न्यूनाधिक विरुद्ध है और जो जीव ऐसे विद्रोहपूर्ण कार्यों में लगा हुआ है, वह प्रकृति के उन नियमों द्वारा प्रायः तिरस्कृत किया जाता है, जो भगवान् के अधीन है। भगवान् के महान् शुद्ध भक्त पतितों के प्रति दयालु होते हैं, इसलिए वे आत्माओं को भगवद्धाम वापस लाने के उद्देश्य से संसार भर में विचरण करते रहते हैं। ऐसे शुद्ध भगवद्भक्त पतितात्माओं का उद्धार करने के लिए उन के पास ईश्वर का सन्देश लेकर जाते हैं, अतएव सामान्य व्यक्ति को, जो भगवान् की बहिरंगा शक्ति के प्रभाव से मोहग्रस्त हुआ रहता है, उनकी संगति का लाभ उठाना चाहिए।

तत्साधुवर्यादिश वर्त्म शं नः
 संराधितो भगवान्येन पुंसाम् ।
 हृदि स्थितो यच्छति भक्तिपूते
 ज्ञानं सतत्त्वाधिगमं पुराणम् ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

तत्—इसलिए; साधु-वर्य—हे सन्तों में सर्वश्रेष्ठ; आदिश—आदेश दें; वर्त्म—मार्ग; शम्—शुभ; नः—हमारे लिए; संग्रहितः—पूरी तरह सेवित; भगवान्—भगवान्; येन—जिससे; पुंसाम्—जीव का; हृदि स्थितः—हृदय में स्थित; यच्छति—प्रदान करता है; भक्ति-पूते—शुद्ध भक्त को; ज्ञानम्—ज्ञान; स—वह; तत्त्व—सत्य; अधिगमम्—जिससे कोई सीखता है; पुराणम्—प्रामाणिक, प्राचीन।

इसलिए, हे महर्षि, आप मुझे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की दिव्य भक्ति के विषय में उपदेश दें जिससे हर एक के हृदय में स्थित भगवान् भीतर से परम सत्य विषयक वह ज्ञान प्रदान करने के लिए प्रसन्न हों जो कि प्राचीन वैदिक सिद्धान्तों के रूप में उन लोगों को ही प्रदान किया जाता है, जो भक्तियोग द्वारा शुद्ध हो चुके हैं।

तात्पर्य : जैसाकि श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कंध में पहले ही बतलाया जा चुका है, ज्ञाता की बोध-क्षमता के अनुसार परम सत्य की अनुभूति तीन विभिन्न अवस्थाओं में की जाती है यद्यपि वे एक ही हैं। सबसे समर्थ योगी (अध्यात्मवादी) भगवान् का शुद्ध भक्त है, जो सकाम कर्मों या दार्शनिक चिन्तन से रंचमात्र भी कलुषित नहीं होता। एकमात्र भक्ति द्वारा ही मनुष्य का हृदय कर्म, ज्ञान तथा योग जैसे भौतिक आवरणों से पूर्णतया शुद्ध हो जाता है। केवल ऐसी ही शुद्ध अवस्था में हर जीव के हृदय में व्यष्टि आत्मा के साथ विराजमान भगवान् उपदेश देते हैं जिससे भक्त अन्तिम गन्तव्य अर्थात् भगवद्धाम पहुँच सकता है। इसकी पुष्टि भगवद्गीता (१०.१०) में हुई है—*तेषां सततयुक्तानां भजताम्।* जब भगवान् भक्त की भक्ति से तुष्ट होते हैं तभी वे ज्ञान प्रदान करते हैं जिस तरह उन्होंने अर्जुन तथा उद्धव के साथ किया।

ज्ञानी, योगी तथा कर्मीजन भगवान् के ऐसे प्रत्यक्ष सहयोग की अपेक्षा नहीं कर सकते। वे न तो भगवान् को दिव्य प्रेमाभक्ति द्वारा तुष्ट करने में समर्थ होते हैं, न ही वे भगवान् की इस प्रकार की सेवा में विश्वास रखते हैं। वैधी भक्ति के नियमों के अन्तर्गत सम्पन्न की गई भक्ति-विधि की परिभाषा शास्त्रों द्वारा दी गई है और महान् आचार्यों द्वारा इनकी संपुष्टि हुई है। ऐसा अभ्यास नवदीक्षित भक्त को राग भक्ति के पद तक पहुँचने में सहायक बन सकता है, जिसमें भगवान् चैत्यगुरु अर्थात् अतिचेतना स्वरूप गुरु के रूप में भीतर से उत्तर देते हैं। भक्तों के अतिरिक्त सारे अध्यात्मवादी व्यष्टि आत्मा तथा परमात्मा में कोई अन्तर नहीं करते, क्योंकि वे अतिचेतना तथा व्यष्टि चेतना को एक ही समझने की गलती करते हैं। अभक्तों द्वारा की गई ऐसी गलती उन्हें भीतर से कोई निर्देशन पाने के अयोग्य बनाती है, अतः वे

भगवान् के प्रत्यक्ष सहयोग से वंचित रह जाते हैं। जब अनेकानेक जन्मों बाद ऐसे अद्वैतवादी होश में आते हैं कि भगवान् आराध्य हैं और भक्त भगवान् से एक होते हुए भी भिन्न हैं तभी वे भगवान् वासुदेव की शरण ग्रहण कर सकते हैं। शुद्ध भक्तियोग इस बिन्दु से प्रारम्भ होता है। दिग्भ्रांत अद्वैतवादी द्वारा परम सत्य को समझने के लिए अपनाई गई विधि अत्यन्त कठिन होती है, जबकि परम सत्य को समझने के लिए भक्ति की विधि प्रत्यक्ष रूप से भगवान् से आती है, क्योंकि वे भक्तिमय सेवा से प्रसन्न होते हैं। विदुर ने पहुँचते ही अनेक नवदीक्षित भक्तों की ओर से मैत्रेय से उस भक्तिमय सेवा मार्ग के विषय में पूछताछ की जिससे हृदय के भीतर आसीन भगवान् को प्रसन्न किया जा सके।

करोति कर्माणि कृतावतारो

यान्यात्मतन्त्रो भगवांस्त्र्यधीशः ।

यथा ससर्जाग्र इदं निरीहः

संस्थाप्य वृत्तिं जगतो विधत्ते ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

करोति—करता है; कर्माणि—दिव्य कर्म; कृत—स्वीकार करके; अवतारः—अवतार; यानि—वे सब; आत्म-तन्त्रः—स्वतंत्र; भगवान्—भगवान्; त्रि-अधीशः—तीनों लोकों के स्वामी; यथा—जिस तरह; ससर्ज—उत्पन्न किया; अग्रे—सर्वप्रथम; इदम्—इस विराट जगत को; निरीहः—यद्यपि इच्छारहित; संस्थाप्य—स्थापित करके; वृत्तिम्—जीविकोपार्जन का साधन; जगतः—ब्रह्माण्डों का; विधत्ते—जिस तरह वह नियमन करता है।

हे महर्षि, कृपा करके बतलाएँ कि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् जो तीनों लोकों के इच्छारहित स्वतंत्र स्वामी तथा समस्त शक्तियों के नियन्ता हैं, किस तरह अवतारों को स्वीकार करते हैं और किस तरह विराट जगत को उत्पन्न करते हैं, जिसके परिपालन के लिए नियामक सिद्धान्त पूर्ण रूप से व्यवस्थित हैं।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण आदि भगवान् हैं जिनसे कारणार्णवशायी विष्णु, गर्भोदकशायी विष्णु तथा क्षीरोदकशायी विष्णु—ये तीनों पुरुष-अवतार विस्तार पाते हैं। सम्पूर्ण भौतिक सृष्टि भगवान् की बहिरंगा शक्ति के अन्तर्गत तीन पुरुषों द्वारा क्रमशः तीन अवस्थाओं में संचालित होती है और इस तरह भौतिक प्रकृति उन्हीं के द्वारा नियंत्रित होती है। भौतिक प्रकृति को स्वतंत्र मानना वैसा ही है जैसे कि बकरी के गलस्तनों में दूध की खोज करना। भगवान् स्वतंत्र हैं और इच्छारहित हैं। वे भौतिक जगत की सृष्टि अपनी तुष्टि के लिए नहीं करते जिस तरह हम अपनी भौतिक इच्छाओं की पूर्ति के लिए घरेलू कामकाज की सृष्टि करते हैं। वस्तुतः, भौतिक जगत उन बद्धजीवों के मोहमय भोग के लिए उत्पन्न

किया जाता है, जो अनादि काल से भगवान् की दिव्य सेवा के विरुद्ध रहते आये हैं। किन्तु भौतिक ब्रह्माण्ड अपने में परिपूर्ण है। भौतिक जगत में भरण-पोषण का कोई अभाव नहीं है। अल्पज्ञान के कारण भौतिकतावादी जन पृथ्वी पर जनसंख्या की दिखावटी वृद्धि होने पर विचलित हो उठते हैं। किन्तु जब भी पृथ्वी पर कोई जीव आता है भगवान् तुरन्त ही उसके जीवन-निर्वाह की व्यवस्था करते हैं। अन्य योनियाँ, जिनकी संख्या मानव समाज से कहीं अधिक है, भरणपोषण के लिए कभी चिन्तित नहीं होतीं। वे कभी भी भूख से मरती नहीं देखी जातीं। यह तो एकमात्र मानव समाज है, जो खाद्य स्थिति के विषय में चिन्तित रहता है और प्रशासनिक कुव्यवस्था को छिपाने के लिए यह दलील दी जाती है कि जनसंख्या अत्यधिक गति से बढ़ रही है। यदि संसार में कोई अभाव है, तो वह ईश-चेतना का अभाव है अन्यथा भगवत्कृपा से अभाव किसी वस्तु का नहीं है।

यथा पुनः स्वे ख इदं निवेश्य

शेते गुहायां स निवृत्तवृत्तिः ।

योगेश्वराधीश्वर एक एत-

दनुप्रविष्टो बहुधा यथासीत् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; पुनः—फिर; स्वे—अपने में; खे—आकाश के रूप (विराट रूप) में; इदम्—यह; निवेश्य—प्रविष्ट होकर; शेते—शयन करता है; गुहायाम्—ब्रह्माण्ड के भीतर; सः—वह (भगवान्); निवृत्त—बिना प्रयास के; वृत्तिः—आजीविका का साधन; योग-ईश्वर—समस्त योगशक्तियों के स्वामी; अधीश्वरः—सभी वस्तुओं के स्वामी; एकः—अद्वितीय; एतत्—यह; अनुप्रविष्टः—बाद में प्रविष्ट होकर; बहुधा—असंख्य प्रकारों से; यथा—जिस तरह; आसीत्—विद्यमान रहता है।

वे आकाश के रूप में फैले अपने ही हृदय में लेट जाते हैं और उस आकाश में सम्पूर्ण सृष्टि को रखकर वे अपना विस्तार अनेक जीवों में करते हैं, जो विभिन्न योनियों के रूप में प्रकट होते हैं। उन्हें अपने निर्वाह के लिए कोई प्रयास नहीं करना पड़ता क्योंकि वे समस्त यौगिक शक्तियों के स्वामी और प्रत्येक वस्तु के मालिक है। इस प्रकार वे जीवों से भिन्न है।

तात्पर्य : सृष्टि, पालन तथा संहार विषयक प्रश्न, जिनका उल्लेख श्रीमद्भागवत के अनेक भागों में हुआ है, विभिन्न कल्पों से सम्बन्ध रखते हैं; अतएव विभिन्न जिज्ञासुओं द्वारा प्रश्न पूछे जाने पर विभिन्न अधिकारियों द्वारा उनका वर्णन भिन्न-भिन्न रूपों में हुआ है। सृजन के सिद्धान्तों तथा उन पर भगवान् के नियंत्रण के विषय में कोई मतभेद नहीं है, किन्तु विभिन्न कल्पों में होने से उनकी बारीकियों में यत्किंचित अन्तर रहता है। विराट आकाश भगवान् का भौतिक शरीर है, जो विराट रूप कहलाता है

और समस्त भौतिक सृष्टियाँ आकाश में अर्थात् भगवान् के हृदय में टिकी हुई हैं। अतएव आकाश से लेकर जो स्थूल दृष्टि के लिए सर्वप्रथम भौतिक अभिव्यक्ति है, पृथ्वी तक हर वस्तु ब्रह्म कहलाती है। सर्व खल्विदं ब्रह्म—भगवान् के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है और वे अद्वय है—जीव परा शक्ति है, जबकि पदार्थ अपरा शक्ति है और इन दोनों शक्तियों के मेल से इस भौतिक जगत की अभिव्यक्ति होती है, जो भगवान् के हृदय में स्थित है।

क्रीडन्विधत्ते द्विजगोसुराणां

क्षेमाय कर्माण्यवतारभेदैः ।

मनो न तृप्यत्यपि शृण्वतां नः

सुश्लोकमौलेश्रितामृतानि ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

क्रीडन्—लीलाएँ करते हुए; विधत्ते—सम्पन्न करता है; द्विज—द्विजन्मा; गो—गौवें; सुराणाम्—देवताओं के; क्षेमाय—कल्याण के लिए; कर्माणि—दिव्य कर्म; अवतार—अवतार; भेदैः—पृथक्-पृथक्; मनः—मन; न—कभी नहीं; तृप्यति—तुष्ट होता है; अपि—के बावजूद; शृण्वताम्—निरन्तर सुनते हुए; नः—हमारा; सु-श्लोक—शुभ, मंगलमय; मौलेः—भगवान् की; चरित—विशेषताएँ; अमृतानि—अमर।

आप द्विजों, गौवों तथा देवताओं के कल्याण हेतु भगवान् के विभिन्न अवतारों के शुभ लक्षणों के विषय में भी वर्णन करें। यद्यपि हम निरन्तर उनके दिव्य कार्यकलापों के विषय में सुनते हैं, किन्तु हमारे मन कभी भी पूर्णतया तुष्ट नहीं हो पाते।

तात्पर्य : भगवान् इस ब्रह्माण्ड में विभिन्न अवतारों के रूप में, यथा मत्स्य, कूर्म, वराह तथा नृसिंह रूपों में प्रकट होते हैं और द्विजों, गौवों तथा देवताओं के कल्याण हेतु विविध दिव्य कार्यों को प्रदर्शित करते हैं। भगवान् द्विजों अर्थात् सभ्य पुरुषों की प्रत्यक्ष रूप से चिन्ता करते हैं। सभ्य व्यक्ति वह है, जिसने दो बार जन्म लिया हो। जीव इस संसार में नर तथा मादा के संसर्ग से जन्म लेता है। मनुष्य माता-पिता की संयुक्ति से उत्पन्न होता है, किन्तु सभ्य मनुष्य का दूसरा जन्म गुरु के सम्पर्क से होता है, जो वास्तविक पिता बनता है। भौतिक देह प्रदान करने वाले माता-पिता केवल एक जन्म के लिए ही माता-पिता हैं, किन्तु अगले जन्म में, माता-पिता अन्य जोड़ा हो सकता है। किन्तु प्रामाणिक गुरु तो भगवान् के प्रतिनिधि के रूप में नित्य पिता होता है, क्योंकि उस पर शिष्य को आध्यात्मिक मोक्ष या जीवन के चरम लक्ष्य तक पहुँचाने का उत्तरदायित्व रहता है। इसलिए सभ्य व्यक्ति को द्विजन्मा होना ही चाहिए, अन्यथा वह निचले दर्जे के पशुओं जैसा ही है।

मनुष्य शरीर को पूर्णता प्रदान करने के लिए गाय सबसे महत्वपूर्ण पशु है। शरीर का पालनपोषण किसी भी तरह के भोज्यपदार्थ से किया जा सकता है, किन्तु मनुष्य के मस्तिष्क के सूक्ष्मतर कोशिकाओं के विकास के लिए गाय का दूध विशेषरूप से आवश्यक होता है, जिससे मनुष्य दिव्य ज्ञान की पेचीदगियों को समझ सके। किसी सभ्य मनुष्य से अपेक्षा की जाती है कि वह फल, शाक, अन्न, चीनी तथा दूध से युक्त भोज्य पदार्थों पर जीवन-निर्वाह करे। बैल अन्न इत्यादि उत्पन्न करने की कृषि प्रक्रिया में सहायता करता है। एक तरह से बैल मानव जाति का पिता है, जबकि गाय माता है क्योंकि वह मानव समाज को दुग्ध प्रदान करती है। अतएव किसी सभ्य मनुष्य से अपेक्षा की जाती है कि वह बैलों तथा गौवों को सभी प्रकार का संरक्षण प्रदान करे।

उच्चतर लोकों में रहने वाले देवतागण अथवा जीवात्माएँ मनुष्यों से कहीं अधिक श्रेष्ठ हैं। क्योंकि उनके जीवन-की स्थितियाँ बेहतर ढंग से व्यवस्थित होती हैं, अतः वे मनुष्यों की अपेक्षा कहीं अधिक विलासिता में रहते हैं। इतना होते हुए भी वे सब भगवद्भक्त होते हैं। भगवान् सभ्य मनुष्यों, गौओं तथा देवताओं को, जो आत्म-साक्षात्कार के निमित्त नियमित जीवन के लिए सीधे उत्तरदायी होते हैं, सुरक्षा प्रदान करने हेतु विविध रूपों में अवतरित होते हैं, जैसे मत्स्य, कूर्म, वराह तथा नृसिंह रूप। भौतिक सृष्टि की संपूर्ण प्रणाली योजना-बद्ध है ताकि बद्धजीवों को आत्म-साक्षात्कार के लिए अवसर मिल सके। जो कोई इस व्यवस्था का लाभ उठाता है, देवता अथवा सभ्य पुरुष कहलाता है। गौधन जीवन के ऐसे उच्चस्तर को बनाए रखने में सहायता के निमित्त है।

द्विजन्मा सभ्य मनुष्यों, गौवों तथा देवताओं की रक्षा के लिए भगवान् की लीलाएँ दिव्य होती हैं। मनुष्य में अच्छी कथा-कहानियाँ सुनने की प्रवृत्ति होती है, अतएव विकसित आत्मा की रुचियों की तुष्टि हेतु बाजार में अनेकानेक पुस्तकें, पत्रिकाएँ तथा समाचारपत्र हैं। किन्तु एक बार पढ़ लेने के बाद ऐसे साहित्य का आनन्द बासी पड़ जाता है और ऐसे साहित्य को बारम्बार पढ़ने में लोगों की रुचि नहीं रह जाती। वस्तुतः समाचारपत्र एक घण्टे से भी कम समय तक पढ़े जाते हैं और उसके बाद कूड़ादान में फेंक दिये जाते हैं। अन्य समस्त लौकिक साहित्य का भी यही हाल है। परन्तु *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* जैसे दिव्य ग्रन्थों का सौन्दर्य यह है कि वे कभी पुराने नहीं पड़ते। इस संसार में उन्हें सभ्य मनुष्य द्वारा विगत पाँच हजार वर्षों से पढ़ा जाता रहा है; फिर भी वे कभी पुराने नहीं पड़े।

विद्वानों तथा भक्तों के लिए वे चिरनवीन हैं और भगवद्गीता तथा श्रीमद्भागवत के श्लोकों के नित्य पाठ से विदुर जैसे भक्तों की भी तृप्ति नहीं होती। विदुर ने मैत्रेय से भेंट करने के पूर्व भगवान् की लीलाओं का न जाने कितनी बार श्रवण किया होगा, किन्तु वे फिर भी उन्हीं कथाओं की पुनरावृत्ति चाह रहे थे, क्योंकि उन्हें सुनने से वे तृप्त नहीं हो पाये थे। भगवान् की महिमामंडित लीलाओं की दिव्य प्रकृति ऐसी ही होती है।

यैस्तत्त्वभेदैरधिलोकनाथो

लोकानलोकान्सह लोकपालान् ।

अचीक्रिपद्यत्र हि सर्वसत्त्व-

निकायभेदोऽधिकृतः प्रतीतः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

यैः—जिसके द्वारा; तत्त्व—सत्य; भेदैः—अन्तर द्वारा; अधिलोक-नाथः—राजाओं के राजा; लोकान्—लोकों को; अलोकान्—अधोभागों के लोकों; सह—के सहित; लोक-पालान्—उनके राजाओं को; अचीक्रिपत्—आयोजना की; यत्र—जिसमें; हि—निश्चय ही; सर्व—समस्त; सत्त्व—अस्तित्व; निकाय—जीव; भेदः—अन्तर; अधिकृतः—अधिकार जमाये; प्रतीतः—ऐसा लगता है।

समस्त राजाओं के परम राजा ने विभिन्न लोकों की तथा आवास स्थलों की सृष्टि की जहाँ प्रकृति के गुणों और कर्म के अनुसार सारे जीव स्थित हैं और उन्होंने उनके विभिन्न राजाओं तथा शासकों का भी सृजन किया।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण समस्त राजाओं के प्रधान राजा हैं। उन्होंने सभी प्रकार के जीवों के लिए भिन्न-भिन्न लोकों की रचना की है। इस लोक तक में विभिन्न प्रकार के लोगों के आवास हेतु भिन्न-भिन्न स्थान हैं। इसमें मरुस्थल, हिमप्रदेश, तथा पर्वतीय क्षेत्रों में घाटियाँ जैसे स्थान हैं और उनमें से हर एक में विभिन्न गुणों वाले नाना प्रकार के लोग अपने पूर्वकर्मों के अनुसार उत्पन्न होते हैं। लोग अरब के मरुस्थल में हैं और हिमालय पर्वत की घाटियों में हैं और इन दोनों स्थानों के निवासी परस्पर भिन्न होते हैं जिस तरह हिमप्रदेशों के लोग भी उनसे भिन्न हैं। इसी तरह भिन्न-भिन्न लोक भी हैं। पृथ्वी से नीचे पाताल लोक तक के लोक विभिन्न प्रकार के जीवों से पूर्ण हैं। कोई लोक रिक्त नहीं है, जैसाकि आधुनिक तथाकथित विज्ञानी भ्रमवश कल्पना करते हैं। भगवद्गीता में हम भगवान् को यह कहते पाते हैं कि जीव सर्वगत है, अर्थात् जीवन के हर क्षेत्र में उपस्थित हैं। अतएव इसमें कोई संदेह नहीं कि अन्य लोकों में भी हमारी ही तरह के निवासी हैं, कभी-कभी हमसे अधिक बुद्धि तथा अधिक ऐश्वर्य

वाले। उन अधिक बुद्धिमानों के रहने के लिए जो स्थितियाँ हैं, वे इस पृथ्वी की अपेक्षा अधिक विलासपूर्ण हैं। ऐसे भी लोक हैं जहाँ सूर्यप्रकाश नहीं पहुँचता और ऐसे भी जीव हैं, जिन्हें अपने विगत कर्मों के कारण वहाँ रहना पड़ रहा है। रहने की स्थितियों की ऐसी सारी योजनाएँ भगवान् द्वारा बनाई गई हैं। इस पर और अधिक प्रकाश डालने के उद्देश्य से विदुर ने मैत्रेय से इसका वर्णन करने के लिए अनुरोध किया।

येन प्रजानामुत आत्मकर्म-

रूपाभिधानां च भिदां व्यधत् ।

नारायणो विश्वसृगात्मयोनि-

रेतच्च नो वर्णय विप्रवर्य ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

येन—जिससे; प्रजानाम्—उत्पन्न लोगों के; उत—जैसा भी; आत्म-कर्म—नियत व्यस्तता; रूप—स्वरूप तथा गुण; अभिधानाम्—प्रयास; च—भी; भिदाम्—अन्तर; व्यधत्—बिखरे हुए; नारायणः—नारायण; विश्वसृक्—ब्रह्माण्ड के स्रष्टा; आत्म-योनिः—आत्मनिर्भर; एतत्—ये सभी; च—भी; नः—हमसे; वर्णय—वर्णन कीजिये; विप्र-वर्य—हे ब्राह्मणश्रेष्ठ।

हे ब्राह्मणश्रेष्ठ, आप यह भी बतलाएँ कि ब्रह्माण्ड के स्रष्टा तथा आत्मनिर्भर प्रभु नारायण ने किस तरह विभिन्न जीवों के स्वभावों, कार्यों, रूपों, लक्षणों तथा नामों की पृथक्-पृथक् रचना की है।

तात्पर्य : प्रत्येक जीव प्रकृति के गुणों के अनुसार अपनी सहज प्रवृत्तियों की योजना के अन्तर्गत है। उसके कार्य प्रकृति के तीन गुणों के अनुसार अभिव्यक्त होते हैं और उसका स्वरूप तथा शारीरिक लक्षण उसके कर्म के अनुसार गढ़े जाते हैं और उसका नाम उसके शारीरिक स्वरूप के अनुसार प्रदान किया जाता है। उदाहरणार्थ, उच्च जाति के लोग श्वेत (शुक्ल) होते हैं और निम्न जाति के लोग काले होते हैं। यह गोरे-काले का विभाजन मनुष्य के जीवन के श्याम तथा शुक्ल कार्यों के अनुसार होता है। पवित्र कार्यों से मनुष्य का जन्म अच्छे तथा उच्च परिवार में होता है, वह धनी बनता है, विद्वान बनता है और सुन्दर शारीरिक स्वरूप प्राप्त करता है। अपवित्र कार्यों से मनुष्य वंश की स्थिति के फलस्वरूप निर्धन बनता है, सदैव अभावग्रस्त रहता है, मूर्ख या अशिक्षित रहता है और कुरूप शरीर पाता है। विदुर ने मैत्रेय से अनुरोध किया कि वे भगवान् नारायण द्वारा निर्मित समस्त जीवों के इन अन्तर्गत्तों का वर्णन करें।

परावरेषां भगवन्व्रतानि
 श्रुतानि मे व्यासमुखादभीक्षणम् ।
 अतृप्नुम क्षुल्लसुखावहानां
 तेषामृते कृष्णकथामृतौघात् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

पर—उच्चतर; अवरेषाम्—इन निम्नतरों का; भगवन्—हे प्रभु, हे महात्मन्; व्रतानि—वृत्तियाँ, पेशे; श्रुतानि—सुना हुआ; मे—मेरे द्वारा; व्यास—व्यास के; मुखात्—मुँह से; अभीक्षणम्—बारम्बार; अतृप्नुम—मैं तुष्ट हूँ; क्षुल्ल—अल्प; सुख-आवहानाम्—सुख लाने वाला; तेषाम्—उनमें से; ऋते—बिना; कृष्ण-कथा—भगवान् कृष्ण विषयक बातें; अमृत-ओघात्—अमृत से।

हे प्रभु, मैं व्यासदेव के मुख से मानव समाज के इन उच्चतर तथा निम्नतर पदों के विषय में बारम्बार सुन चुका हूँ और मैं इन कम महत्व वाले विषयों तथा उनके सुखों से पूर्णतया तृप्त हूँ। पर वे विषय बिना कृष्ण विषयक कथाओं के अमृत से मुझे तुष्ट नहीं कर सके।

तात्पर्य : चूँकि लोग सामाजिक तथा ऐतिहासिक प्रस्तुतियों को सुनने में अत्यधिक रुचि लेते हैं, अतएव श्रील व्यासदेव ने पुराण तथा महाभारत जैसे अनेक ग्रन्थों की रचना की है। ये ग्रन्थ सामान्यजनों के लिए पठनीय सामग्री हैं और इनकी रचना उनमें उस ईशचेतना को जागृत करने के लिए की गई थी जिसे लोग भौतिक जगत के बद्धजीवन में अब भूल चुके हैं। ऐसे ग्रन्थों का असली प्रयोजन उतना ऐतिहासिक सन्दर्भों की कथाएँ प्रस्तुत करना नहीं है जितना कि लोगों में ईशभावनामृत को जागृत करना है। उदाहरणार्थ, महाभारत कुरुक्षेत्र के युद्ध का इतिहास है और सामान्यजन इसे पढ़ते हैं, क्योंकि यह मानव समाज विषयक सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक समस्याओं की कथाओं से भरापड़ा है। किन्तु वास्तव में महाभारत का सबसे महत्वपूर्ण भाग भगवद्गीता है, जिसे कुरुक्षेत्र के युद्ध के ऐतिहासिक वर्णनों के साथ-साथ पाठकों को स्वतः पढ़ा दिया जाता है।

विदुर ने मैत्रेय को बताया कि वे लौकिक, सामाजिक तथा राजनीतिक कथाओं के ज्ञान से पूर्णतया तृप्त हो चुके हैं, अतएव अब उनमें उनके लिए रुचि नहीं है। वे भगवान् कृष्ण विषयक दिव्य कथाएँ सुनने के लिए लालायित थे। चूँकि पुराणों, महाभारत इत्यादि में कृष्ण से सीधा सम्बन्ध रखने वाली कथाएँ अपर्याप्त थीं, अतएव वे तुष्ट न हो सके और कृष्ण के बारे में और अधिक जानना चाह रहे थे। कृष्णकथाएँ दिव्य हैं और ऐसी कथाओं के सुनने से तृप्ति नहीं होती। कृष्णकथा, अथवा कृष्ण के प्रवचन होने के कारण भगवद्गीता महत्वपूर्ण है। कुरुक्षेत्र के युद्ध की कहानी आम जनता के लिए

रोचक हो सकती है, किन्तु भगवद्भक्ति में अत्यधिक आगे बढ़ चुके विदुर जैसे व्यक्ति के लिए कृष्णकथा तथा कृष्णकथा से जुड़ी कथा ही रोचक है। विदुर मैत्रेय के मुख से सारी बातें सुनना चाहते थे, इसीलिए उन्होंने उनसे पूछा, किन्तु उन्होंने इच्छा प्रकट की कि ये सारी कथाएँ कृष्ण के सम्बन्ध में हों। जिस तरह अग्नि कितना भी ईंधन जला डाले कभी तुष्ट नहीं होती उसी तरह शुद्ध भगवद्भक्त कृष्ण के विषय में जितना सुनता है, वह कम ही होता है। ऐतिहासिक घटनाएँ तथा अन्य सामाजिक एवं राजनीतिक बातें कृष्ण से सम्बन्धित होते ही दिव्य बन जाती हैं। लेकिन सांसारिक बातों को आध्यात्मिक रूप में बदलने का यही तरीका है। यह सारा जगत वैकुण्ठ में परिणत हो जाय यदि सारे सांसारिक कार्य कृष्णकथा से जुड़ जायें।

संसार में दो महत्त्वपूर्ण कृष्ण कथाएँ प्रचलित हैं— भगवद्गीता तथा श्रीमद्भागवत। भगवद्गीता कृष्णकथा है, क्योंकि इसे कृष्ण ने कहा है, जबकि श्रीमद्भागवत इसलिए कृष्णकथा है, क्योंकि इसमें कृष्ण के विषय में कहा गया है। श्री चैतन्य महाप्रभु ने अपने सारे शिष्यों से संसार भर में बिना भेदभाव के कृष्णकथा का प्रचार करने के लिए कहा, क्योंकि कृष्णकथा की दिव्य शक्ति हर एक को भौतिक कल्मष से शुद्ध बना सकती है।

कस्तृप्नुयात्तीर्थपदोऽभिधानात्

सत्रेषु वः सूरिभिरीड्यमानात् ।

यः कर्णनाडीं पुरुषस्य यातो

भवप्रदां गेहरतिं छिनत्ति ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

कः—वह कौन मनुष्य है; तृप्नुयात्—जो तुष्ट किया जा सके; तीर्थ-पदः—जिसके चरणकमल तीर्थस्थल हैं; अभिधानात्—की बातों से; सत्रेषु—मानव समाज में; वः—जो है; सूरिभिः—महान् भक्तों द्वारा; ईड्यमानात्—इस तरह पूजित होने वाला; यः—जो; कर्ण-नाडीम्—कानों के छेदों में; पुरुषस्य—मनुष्य के; यातः—प्रवेश करते हुए; भव-प्रदाम्—जन्म-मृत्यु प्रदान करने वाला; गेह-रतिम्—पारिवारिक स्नेह; छिनत्ति—काट देता है।

जिनके चरणकमल समस्त तीर्थों के सार रूप हैं तथा जिनकी आराधना महर्षियों तथा भक्तों द्वारा की जाती है, ऐसे भगवान् के विषय में पर्याप्त श्रवण किये बिना मानव समाज में ऐसा कौन होगा जो तुष्ट होता हो? मनुष्य के कानों के छेदों में ऐसी कथाएँ प्रविष्ट होकर उसके पारिवारिक मोह के बन्धन को काट देती हैं।

तात्पर्य : कृष्णकथा इतनी शक्तिशाली होती है कि मनुष्य के कान में प्रवेश करने मात्र से

पारिवारिक स्नेह के बन्धन से उसका उद्धार तुरन्त कर सकती है। पारिवारिक स्नेह बहिरंगा शक्ति की भ्रामक अभिव्यक्ति है और समस्त लौकिक कार्यकलापों की यही एकमात्र प्रेरक है। जब तक लौकिक क्रियाशीलता रहती है और मन ऐसे कार्य में लीन रहता है तब तक चालू भौतिक अज्ञानता में बारम्बार जन्म-मृत्यु को भोगना पड़ता है। लोग भौतिक प्रकृति के तमोगुण से सर्वाधिक प्रभावित होते हैं और कुछ लोग रजोगुण से प्रभावित होते हैं और इन दो गुणों के बन्धन में जीव देहात्मबुद्धि द्वारा गतिशील होता है। लौकिक गुण जीव को अपनी सही स्थिति को समझने नहीं देते। तमो तथा रजो दोनों ही गुण मनुष्य को मोहमयी देहात्मबुद्धि से जकड़ देते हैं। इस तरह से भ्रमित हुए लोगों में से सबसे बड़े मूर्ख वे होते हैं, जो रजोगुण के प्रभाव में आकर परोपकारी कार्यों में संलग्न होते हैं। *भगवद्गीता* जो प्रत्यक्ष कृष्णकथा है, मानवता को यह मूलभूत पाठ पढ़ाती है कि शरीर नाशवान है और सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त चेतना अनश्वर है। चेतन जीव अर्थात् अविनश्वर आत्मा, शाश्वत विद्यमान रहता है और शरीर के विघटन के बाद भी किसी भी तरह मारा नहीं जा सकता। जो कोई भी इस नश्वर शरीर को आत्मा समझता है और समाज शास्त्र, राजनीति, परोपकार, परार्थवाद, राष्ट्रीयता या अन्तर्राष्ट्रीयता के नाम पर देहात्मबुद्धि की दुहाई देकर काम करता है, वह निश्चय ही मूर्ख है और वास्तविकता (सत्) तथा अवास्तविकता (असत्) की जटिलताओं को नहीं जानता। इनमें से कुछ तमो तथा रजो गुणों से ऊपर होते हैं और सतोगुण में स्थित होते हैं, किन्तु लौकिक सत्त्व सदैव तमो तथा रजो गुणों से कलुषित रहता है। लौकिक सत्त्व मनुष्य को यह समझ सकता है कि शरीर तथा आत्मा भिन्न हैं और जो सतोगुणी है, वह आत्मा की परवाह करता है, शरीर की नहीं। किन्तु कलुषित होने से लौकिक सतोगुणी लोग व्यक्ति के रूप में आत्मा के असली स्वभाव को नहीं समझ सकते। उनकी शरीर से पृथक् आत्मा विषयक निर्विशेष धारणा उन्हें भौतिक प्रकृति के अन्तर्गत सतोगुण में रखती है और जब तक वे कृष्णकथा के प्रति आकृष्ट नहीं होते तब तक वे भवबन्धन से कभी भी मोक्ष नहीं पा सकते। कृष्णकथा संसार के सभी लोगों के लिए एकमात्र ओषधि है, क्योंकि यह मनुष्य को आत्मा की शुद्ध चेतना में स्थित कर सकती है और उसे भवबन्धन से मुक्त कर सकती है। श्री चैतन्य महाप्रभु की संस्तुति के अनुसार विश्वभर में कृष्णकथा का प्रचार करना सबसे बड़ा धर्मोपदेश कार्य है और संसार के समस्त विवेकवान नर-नारी श्री चैतन्य महाप्रभु द्वारा चलाये गये इस महान् आन्दोलन में सम्मिलित हो सकते हैं।

मुनिर्विवक्षुर्भगवद्गुणानां

सखापि ते भारतमाह कृष्णः ।

यस्मिन्नृणां ग्राम्यसुखानुवादै-

मतिर्गृहीता नु हरेः कथायाम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

मुनिः— मुनि ने; विवक्षुः— वर्णन किया; भगवत्— भगवान् के; गुणानाम्— दिव्य गुणों का; सखा— मित्र; अपि— भी; ते— तुम्हारा; भारतम्— महाभारत; आह— वर्णन किया है; कृष्णः— कृष्ण-द्वैपायन व्यास; यस्मिन्— जिसमें; नृणाम्— मनुष्यों के; ग्राम्य— सांसारिक; सुख-अनुवादैः— लौकिक कथाओं से प्राप्य आनन्द; मतिः— ध्यान; गृहीता नु— अपनी ओर खींचने के लिए; हरेः— भगवान् की; कथायाम्— भाषणों का (भगवद्गीता)।

आपके मित्र महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यास पहले ही अपने महान् ग्रन्थ महाभारत में भगवान् के दिव्य गुणों का वर्णन कर चुके हैं। किन्तु इसका सारा उद्देश्य सामान्य जन का ध्यान लौकिक कथाओं को सुनने के प्रति उनके प्रबल आकर्षण के माध्यम से कृष्णकथा (भगवद्गीता) की ओर आकृष्ट करना है।

तात्पर्य : महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यास समस्त वैदिक वाङ्मय के रचयिता हैं जिसमें से वेदान्त सूत्र, श्रीमद्भागवत तथा महाभारत नामक कृतियाँ अत्यन्त लोकप्रिय हैं। जैसाकि भागवत (१.४.२५) में कहा गया है श्रील व्यासदेव ने महाभारत की रचना उन अल्प बुद्धिवाले मनुष्यों के लिए की जो जीवन के दर्शन की अपेक्षा लौकिक कथाओं में अधिक रुचि लेते हैं। वेदान्त सूत्र की रचना ऐसे व्यक्तियों के लिए की गई थी जो पहले से लौकिक कथाओं से ऊपर हों और जिन्होंने लौकिक कार्यकलापों के तथाकथित सुख की कटुता का पहले से आस्वादन किया हो। वेदान्त सूत्र का पहला सूत्र है अथातो ब्रह्मजिज्ञासा अर्थात् जब किसी ने इन्द्रियतृप्ति के बाजार में लौकिक जिज्ञासाओं का सौदा पूरा कर लिया हो तभी वह ब्रह्म के विषय में प्रासंगिक जिज्ञासाएँ कर सकता है। जो लोग ऐसी लौकिक जिज्ञासाओं में व्यस्त रहते हैं जिनसे समाचारपत्र तथा अन्य ऐसे ग्रंथ भरे रहते हैं, वे स्त्रीशूद्रद्विजबन्धु अर्थात् स्त्रियों, श्रमिकों तथा उच्च जाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य) के अयोग्य पुत्रों की श्रेणी में आते हैं। ऐसे अल्पज्ञ लोग वेदान्त सूत्र के प्रयोजन को नहीं समझ सकते यद्यपि वे विकृत रूप में सूत्रों का अध्ययन करने का स्वांग कर सकते हैं। वेदान्त सूत्र के असली प्रयोजन की व्याख्या प्रणेता ने स्वयं श्रीमद्भागवत में की है और श्रीमद्भागवत के सन्दर्भ के बिना वेदान्त सूत्र को समझने का प्रयास करने वाला कोई भी व्यक्ति निश्चय ही दिग्भ्रमित हो जाता है। ऐसे दिग्भ्रमित लोगों को जो शरीर को आत्मा

समझने की गलत धारणा के अधीन, लौकिक परोपकारी कार्यों में रुचि दिखाते हैं, महाभारत से लाभ उठाना चाहिए जिसे श्रीव्यासदेव ने विशेष रूप से उन्हीं के लाभार्थ लिखा है। इस महान् प्रणेता ने महाभारत की रचना इस प्रकार की है कि ऐसे अल्पज्ञ लोग, जिन्हें लौकिक कथाओं में अधिक रुचि है, बड़े चाव से महाभारत को पढ़ सकते हैं और ऐसे लौकिक सुख के दौरान वे भगवद्गीता का भी लाभ उठा सकते हैं, जो कि श्रीमद्भागवत या वेदान्त सूत्र का प्रारम्भिक अध्ययन है। श्रील व्यासदेव द्वारा लौकिक कार्यकलापों का इतिहास लिखने में, अल्पज्ञों के लिए भगवद्गीता के माध्यम से दिव्य साक्षात्कार का अवसर प्रदान करने के अतिरिक्त, कोई अन्य प्रयोजन न था। विदुर द्वारा महाभारत का संदर्भ सूचित करता है कि उन्होंने अपने असली पिता व्यासदेव से महाभारत सुनी जब वे घर से दूर रहकर तीर्थ स्थलों का भ्रमण कर रहे थे।

सा श्रद्धधानस्य विवर्धमाना

विरक्तिमन्यत्र करोति पुंसः ।

हरेः पदानुस्मृतिनिर्वृतस्य

समस्तदुःखाप्ययमाशु धत्ते ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

सा—कृष्णकथा; श्रद्धधानस्य—श्रद्धापूर्वक सुनने के इच्छुक लोगों के; विवर्धमाना—क्रमशः बढ़ती हुई; विरक्तिम्—अन्यमनस्कता; अन्यत्र—अन्य बातों (ऐसी कथाओं के अतिरिक्त) में; करोति—करता है; पुंसः—ऐसे व्यस्त व्यक्ति का; हरेः—भगवान् का; पद-अनुस्मृति—भगवान् के चरणकमलों का निरन्तर स्मरण; निर्वृतस्य—ऐसा दिव्य आनन्द प्राप्त करने वाले का; समस्त-दुःख—सारे कष्ट; अप्ययम्—दूर हुए; आशु—तुरन्त; धत्ते—सम्पन्न करता है।

जो व्यक्ति ऐसी कथाओं का निरन्तर श्रवण करते रहने के लिए आतुर रहता है, उसके लिए कृष्णकथा क्रमशः अन्य सभी बातों के प्रति उसकी उदासीनता को बढ़ा देती है। वह भक्त जिसने दिव्य आनन्द प्राप्त कर लिया हो उसके द्वारा भगवान् के चरणकमलों का ऐसा निरन्तर स्मरण तुरन्त ही उसके सारे कष्टों को दूर कर देता है।

तात्पर्य : हमें निश्चित रूप से जान लेना चाहिए कि परम स्तर पर कृष्णकथा तथा कृष्ण एक हैं। भगवान् परम सत्य हैं, अतएव उनका नाम, रूप, गुण, इत्यादि, जिन्हें कृष्णकथा समझा जाता है, उनसे अभिन्न होते हैं। भगवान् द्वारा कही गई भगवद्गीता स्वयं कृष्ण के ही समान है, जब कोई शुद्ध भक्त भगवद्गीता पढ़ता है, तो यह भगवान् को अपने सामने देखने जैसा होता है, किन्तु लौकिक बखेड़ा करने वाले के लिए यह ऐसा नहीं है। जब कोई भगवद्गीता पढ़ता है, बशर्ते कि वह उस रीति से पढ़ी

जाय जिस रूप में स्वयं भगवान् ने गीता में संस्तुति की है, तो भगवान् की सारी शक्तियाँ वहाँ होती हैं। ऐसा नहीं है कि कोई भगवद्गीता की मूर्खतापूर्ण व्याख्या करके दिव्य लाभ पा सके। जो व्यक्ति किसी प्रच्छन्न उद्देश्य के लिए भगवद्गीता का कोई कृत्रिम अर्थ या व्याख्या करना चाहता है, वह श्रद्धान पुंसः अर्थात् कृष्ण कथा के प्रामाणिक श्रवण में उत्सुकतापूर्वक लगा रहने वाला नहीं है। ऐसा व्यक्ति भगवद्गीता के पठन से कोई लाभ नहीं प्राप्त कर सकता चाहे वह सामान्य जन की दृष्टि में कितना बड़ा विद्वान् क्यों न हो। श्रद्धान अथवा श्रद्धावान् भक्त भगवद्गीता के सारे लाभ प्राप्त कर सकता है, क्योंकि वह भगवान् की सर्वशक्तिमत्ता के द्वारा दिव्य आनन्द प्राप्त करता है, जो आसक्ति को दूर करता है और समस्त भौतिक कष्टों को निरस्त करता है। अपने वास्तविक अनुभव से एकमात्र भक्त ही विदुर द्वारा कहे गये इस श्लोक का आशय समझ सकता है। शुद्ध भक्त कृष्णकथा सुनकर भगवान् के चरणकमलों का निरन्तर स्मरण करते रहने से जीवन का आनन्द लेता है। ऐसे भक्त के लिए भौतिक जगत जैसी कोई वस्तु नहीं होती और अत्यधिक विज्ञापित ब्रह्मानन्द का सुख उस भक्त के लिए नगण्य होता है, जो आनन्द के दिव्य सागर में डुबकी लगा रहा हो।

ताञ्छोच्यशोच्यानविदोऽनुशोचे

हरेः कथायां विमुखानघेन ।

क्षिणोति देवोऽनिमिषस्तु येषा-

मायुर्वृथावादगतिस्मृतीनाम् ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

तान्—उन सब; शोच्य—दयनीय; शोच्यान्—दयनीयों का; अविदः—अज्ञ; अनुशोचे—मुझे तरस आती है; हरेः—भगवान् की; कथायाम्—कथाओं के; विमुखान्—विमुखों पर; अघेन—पापपूर्ण कार्यों के कारण; क्षिणोति—क्षीण पड़ते; देवः—भगवान्; अनिमिषः—नित्यकाल; तु—लेकिन; येषाम्—जिसकी; आयुः—आयु; वृथा—व्यर्थ; वाद—दार्शनिक चिन्तन; गति—चरमलक्ष्य; स्मृतीनाम्—विभिन्न अनुष्ठानों का पालन करने वालों के।

हे मुनि, जो व्यक्ति अपने पाप कर्मों के कारण दिव्य कथा-प्रसंगों से विमुख रहते हैं और फलस्वरूप महाभारत (भगवद्गीता) के उद्देश्य से वंचित रह जाते हैं, वे दयनीय द्वारा भी दया के पात्र होते हैं। मुझे भी उन पर तरस आती है, क्योंकि मैं देख रहा हूँ कि किस तरह नित्यकाल द्वारा उनकी आयु नष्ट की जा रही है। वे दार्शनिक चिन्तन, जीवन के सैद्धान्तिक चरम लक्ष्यों तथा विभिन्न कर्मकाण्डों की विधियों को प्रस्तुत करने में स्वयं को लगाये रहते हैं।

तात्पर्य : प्रकृति के गुणों के अनुसार मनुष्यों तथा भगवान् के बीच तीन प्रकार के सम्बन्ध होते हैं।

जो लोग तमोगुणी तथा रजोगुणी हैं, वे ईश्वर के अस्तित्व के विमुख रहते हैं या वे ईश्वर के अस्तित्व को औपचारिक आपूर्तिकर्ता के पद पर मानते हैं। उनके ऊपर वे हैं, जो सतोगुणी होते हैं। ये दूसरी श्रेणी के लोग परब्रह्म को निर्विशेष मानते हैं। वे भक्ति सम्प्रदाय को स्वीकार करते हैं जिसमें कृष्णकथा सुनना सर्वप्रथम साधन के रूप में होता है, साध्य रूप में नहीं। उनसे भी ऊपर वे हैं, जो शुद्ध भक्त हैं। वे भौतिक सतोगुण के ऊपर दिव्य अवस्था में स्थित होते हैं। ऐसे लोग निश्चित रूप से आश्वस्त रहते हैं कि भगवान् के नाम, रूप, यश, गुण इत्यादि परम स्तर पर एक दूसरे से अभिन्न होते हैं। उनके लिए कृष्णकथा का सुनना कृष्ण के आमने-सामने मिलने के तुल्य होता है। इस श्रेणी के लोगों के अनुसार जो भगवान् की शुद्ध भक्ति को प्राप्त होते हैं, मानव जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य पुरुषार्थ है अर्थात् भगवान् की भक्ति है, जो जीवन का असली मिशन है। चूँकि निर्विशेषवादी लोग मानसिक चिन्तन में लगे रहते हैं और भगवान् में श्रद्धा नहीं रखते, अतएव उनका कृष्णकथा सुनने से कोई सरोकार नहीं होता। ऐसे लोग उच्चकोटि के शुद्ध भक्तों की दया के पात्र हैं। दयनीय निर्विशेषवादी उन पर तरस खाते हैं, जो तमो तथा रजो गुणों द्वारा प्रभावित होते हैं, किन्तु भगवान् के शुद्ध भक्त इन दोनों पर तरस खाते हैं, क्योंकि ये दोनों ही मानव जीवन का अपना अमूल्य समय झूठे कार्यों, इन्द्रियभोगों तथा विभिन्न वादों एवं जीवन लक्ष्यों के मानसिक चिन्तन के प्रदर्शन में नष्ट करते हैं।

तदस्य कौषारव शर्मदातु-

हरिः कथामेव कथासु सारम् ।

उद्धृत्य पुष्पेभ्य इवार्तबन्धो

शिवाय नः कीर्तय तीर्थकीर्तेः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

तत्—इसलिए; अस्य—उसका; कौषारव—हे मैत्रेय; शर्म-दातुः—सौभाग्य प्रदान करने वाले; हरिः—भगवान् की; कथाम्—कथाएँ; एव—एकमात्र; कथासु—सभी कथाओं में; सारम्—सार; उद्धृत्य—उद्धरण देकर; पुष्पेभ्यः—फूलों से; इव—सदृश; आर्त-बन्धो—हे दुखियों के बन्धु; शिवाय—कल्याण के लिए; नः—हमारे; कीर्तय—कृपया वर्णन कीजिये; तीर्थ—तीर्थयात्रा; कीर्तेः—कीर्तिवान को।

हे मैत्रेय, हे दुखियारों के मित्र, एकमात्र भगवान् की महिमा सारे जगत के लोगों का कल्याण करने वाली है। अतएव जिस तरह मधुमक्खियाँ फूलों से मधु एकत्र करती हैं, उसी तरह कृपया समस्त कथाओं के सार—कृष्णकथा—का वर्णन कीजिये।

तात्पर्य : विभिन्न भौतिक गुणों वाले भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के लिए अनेक प्रकार की कथाएँ होती

हैं, किन्तु सबसे आवश्यक कथाएँ वे हैं, जो भगवान् से सम्बन्धित होती हैं। दुर्भाग्यवश, भौतिक रूप से प्रभावित बद्धजीव भगवान् की कथाओं के प्रति न्यूनाधिक विमुख रहते हैं, क्योंकि इनमें से कुछ लोग ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं रखते और कुछ ईश्वर के केवल निर्विशेष रूप में ही विश्वास करते हैं। दोनों ही दशाओं में उनके लिए ईश्वर के विषय में कुछ भी नहीं कहना होता। विश्वास न करने वाले तथा निर्विशेषवादी दोनों ही समस्त कथाओं के सार से इनकार करते हैं, अतएव वे या तो इन्द्रियतृप्ति विषयक कथाओं में या मानसिक चिन्तन में अपने को लगाते हैं। विदुर जैसे शुद्ध भक्तों के लिए संसारी लोगों तथा मानसिक चिन्तकों, दोनों ही की कथाएँ सभी तरह से व्यर्थ हैं। अतः विदुर ने मैत्रेय से केवल सार, अर्थात् कृष्णकथा के विषय में बातें करने की प्रार्थना की, अन्य किसी विषय पर नहीं।

स विश्वजन्मस्थितिसंयमार्थे

कृतावतारः प्रगृहीतशक्तिः ।

चकार कर्माण्यतिपूरुषाणि

यानीश्वरः कीर्तय तानि मह्यम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

सः—भगवान्; विश्व—ब्रह्माण्ड; जन्म—सृष्टि; स्थिति—भरण-पोषण; संयम-अर्थ—पूर्ण नियंत्रण की दृष्टि से; कृत—स्वीकृत; अवतारः—अवतार; प्रगृहीत—सम्पन्न किया हुआ; शक्तिः—शक्ति; चकार—किया; कर्माणि—दिव्यकर्म; अति-पूरुषाणि—अतिमानवीय; यानि—वे सभी; ईश्वरः—भगवान्; कीर्तय—कृपया कीर्तन करें; तानि—उन सबों का; मह्यम्—मुझसे।

कृपया उन परम नियन्ता भगवान् के समस्त अतिमानवीय दिव्य कर्मों का कीर्तन करें जिन्होंने विराट सृष्टि के प्राकट्य तथा पालन के लिए समस्त शक्ति से समन्वित होकर अवतार लेना स्वीकार किया।

तात्पर्य : निस्सन्देह, विदुर कृष्ण के विषय में विशेष रूप से सुनने के अत्यन्त उत्सुक थे, किन्तु वे भावाभिभूत थे, क्योंकि कृष्ण ने इस दृश्य जगत से हाल ही में प्रयाण किया था। अतएव विदुर ने उनके उन पुरुष अवतारों के विषय में सुनना चाहा, जिन्हें वे विराट जगत की सृष्टि तथा भरण-पोषण के लिए पूर्ण शक्तियों समेत प्रकट करते हैं। पुरुष अवतारों के कार्यकलाप भगवान् के कार्यों के विस्तार मात्र होते हैं। विदुर ने मैत्रेय को यह संकेत दिया, क्योंकि मैत्रेय यह तय नहीं कर पा रहे थे कि कृष्ण के कार्यों के किस अंश का कीर्तन किया जाय।

श्रीशुक उवाच

स एवं भगवान्पृष्ठः क्षत्रा कौषारवो मुनिः ।

पुंसां निःश्रेयसार्थेन तमाह बहुमानयन् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; सः—वह; एवम्—इस प्रकार; भगवान्—महर्षि; पृष्ठः—पूछे जाने पर; क्षत्रा—विदुर द्वारा; कौषारवः—मैत्रेय; मुनिः—महर्षि; पुंसाम्—सारे लोगों के लिए; निःश्रेयस—महानतम कल्याण; अर्थेन—के लिए; तम्—उसको; आह—वर्णन किया; बहु—अत्यधिक; मानयन्—सम्मान करते हुए।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : विदुर का अत्यधिक सम्मान करने के बाद विदुर के अनुरोध पर समस्त लोगों के महानतम कल्याण हेतु महर्षि मैत्रेय मुनि बोले।

तात्पर्य : महर्षि मैत्रेय मुनि को यहाँ पर भगवान् कहा गया है, क्योंकि विद्या तथा अनुभव में वे सामान्य मनुष्यों से आगे बढ़ चुके थे। अतः विश्व के लिए महानतम सेवा का उनका चुनाव प्रामाणिक माना गया है। सम्पूर्ण मानव समाज की समग्र कल्याण सेवा तो भगवान् की भक्तिमय सेवा है और विदुर के अनुरोध पर मुनि ने उसका बहुत ही उपयुक्त रूप से वर्णन किया।

मैत्रेय उवाच

साधु पृष्ठं त्वया साधो लोकान्साध्वनुगृह्णता ।

कीर्तिं वितन्वता लोके आत्मनोऽधोक्षजात्मनः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—श्री मैत्रेय ने कहा; साधु—सर्वमंगलमय; पृष्ठम्—पूछा गया; त्वया—तुम्हारे द्वारा; साधो—हे भद्रे; लोकान्—सारे लोग; साधु अनुगृह्णता—अच्छाई में दया का प्रदर्शन; कीर्तिम्—कीर्ति; वितन्वता—प्रसार करते हुए; लोके—संसार में; आत्मनः—आत्मा का; अधोक्षज—ब्रह्म; आत्मनः—मन।

श्रीमैत्रेय ने कहा : हे विदुर, तुम्हारी जय हो। तुमने मुझसे सबसे अच्छी बात पूछी है। इस तरह तुमने संसार पर तथा मुझ पर अपनी कृपा प्रदर्शित की है, क्योंकि तुम्हारा मन सदैव ब्रह्म के विचारों में लीन रहता है।

तात्पर्य : ब्रह्म विज्ञान में अनुभवी मैत्रेय मुनि समझ गये कि विदुर का मन पूर्णतया ब्रह्म में लीन है। अधोक्षज का अर्थ है, जो इन्द्रिय अनुभूति या इन्द्रिय अनुभव की सीमाओं को लाँघ जाता है। भगवान् हमारे इन्द्रिय अनुभव के परे हैं, किन्तु वे निष्ठावान भक्त के समक्ष अपने को प्रकट करते हैं। चूँकि विदुर भगवान् के विचार में सदैव लीन रहते थे, अतएव मैत्रेय विदुर के दिव्य महत्त्व का अनुमान लगा सके। उन्होंने विदुर के मूल्यवान प्रश्नों को सराहा और अत्यन्त आदर के साथ उन्हें धन्यवाद दिया।

नैतच्चित्रं त्वयि क्षत्तर्बादरायणवीर्यजे ।

गृहीतोऽनन्यभावेन यत्त्वया हरिरीश्वरः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; एतत्—ऐसे प्रश्न; चित्रम्—अत्यन्त आश्चर्यजनक; त्वयि—तुममें; क्षत्तः—हे विदुर; बादरायण—व्यासदेव के; वीर्य-जे—वीर्य से उत्पन्न; गृहीतः—स्वीकृत; अनन्य-भावेन—विचार से हटे बिना; यत्—क्योंकि; त्वया—तुम्हारे द्वारा; हरिः—भगवान्; ईश्वरः—भगवान्।

हे विदुर, यह तनिक भी आश्चर्यप्रद नहीं है कि तुमने अनन्य भाव से भगवान् को इस तरह स्वीकार कर लिया है, क्योंकि तुम व्यासदेव के वीर्य से उत्पन्न हो।

तात्पर्य : यहाँ पर विदुर के जन्म को लेकर महान् वंश तथा कुलीन जन्म का मूल्यांकन किया गया है। मनुष्य का अनुशीलन तभी शुरू हो जाता है जब पिता अपना वीर्य माता के गर्भ में स्थापित करता है। जीव अपने कर्म के स्तर के अनुसार विशिष्ट पिता के वीर्य में अवस्थित कर दिया जाता है और चूँकि विदुर सामान्य जीव न थे, अतएव उन्हें व्यास के वीर्य से जन्म लेने का अवसर प्रदान किया गया। मनुष्य का जन्म महान् विज्ञान है, अतएव वैदिक अनुष्ठान के अनुसार वीर्यस्थापन का संस्कार जो गर्भाधान संस्कार कहलाता है, उत्तम जनसंख्या को उत्पन्न करने के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। मूल समस्या जनता की वृद्धि को रोकने की नहीं, अपितु विदुर, व्यास तथा मैत्रेय जैसी अच्छी संतति उत्पन्न करने की है। यदि जन्म सम्बन्धी समस्त सावधानियों के साथ बच्चे मनुष्य के रूप में उत्पन्न हों तो जनसंख्या-वृद्धि रोकने की कोई आवश्यकता नहीं है। तथाकथित जन्म-नियंत्रण (संतति-निरोध) न केवल दूषित है, अपितु निरर्थक भी है।

माण्डव्यशापाद्भगवान्प्रजासंयमनो यमः ।

भ्रातुः क्षेत्रे भुजिष्यायां जातः सत्यवतीसुतात् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

माण्डव्य—माण्डव्य नामक महर्षि; शापात्—उसके शाप से; भगवान्—अत्यन्त शक्तिशाली; प्रजा—जन्म लेने वाला; संयमनः—मृत्यु का नियंत्रक; यमः—यमराज नाम से विख्यात; भ्रातुः—भाई की; क्षेत्रे—पत्नी में; भुजिष्यायाम्—रखेल; जातः—उत्पन्न; सत्यवती—सत्यवती (विचित्रवीर्य तथा व्यासदेव की माता); सुतात्—पुत्र (व्यासदेव) से।

मैं जानता हूँ कि तुम माण्डव्य मुनि के शाप के कारण विदुर बने हो और इसके पूर्व तुम जीवों की मृत्यु के पश्चात उनके महान् नियंत्रक राजा यमराज थे। तुम सत्यवती के पुत्र व्यासदेव द्वारा उसके भाई की रखैल पत्नी से उत्पन्न हुए थे।

तात्पर्य : माण्डव्य मुनि एक महान ऋषि थे (देखें *भागवत* १.१३.१) और विदुर अपने पूर्वजन्म में नियंत्रक यमराज थे, जो जीवों की मृत्यु के बाद उनका कार्यभार सँभालता है। इस भौतिक जगत में रहने वाले जीवों की तीन दशाएँ हैं—जन्म, भरण-पोषण तथा मृत्यु। एक बार मृत्यु के पश्चात् नियुक्त नियंत्रक के रूप में यमराज ने माण्डव्य मुनि को उनके बचपन के दुराचार के लिए दण्ड दिया और उन्हें भाले से छेदे जाने का आदेश दे दिया। इस अनुचित दण्ड के लिए यमराज पर क्रुद्ध होकर माण्डव्य ने उसे शूद्र बनने का शाप दे दिया। इस तरह यमराज ने विचित्रवीर्य की रखैल पत्नी के गर्भ से विचित्रवीर्य के भाई व्यासदेव के वीर्य से जन्म लिया। व्यासदेव सत्यवती के गर्भ से उत्पन्न भीष्मदेव के पिता शान्तनु के पुत्र थे। विदुर का यह रहस्यमय इतिहास मैत्रेय मुनि को ज्ञात था, क्योंकि वे व्यासदेव के समकालीन मित्र थे। रखैल पत्नी के गर्भ से जन्म होने के बावजूद विदुर ने महान् भगवद्भक्त होने की सर्वोच्च प्रतिभा का उत्तराधिकार प्राप्त किया, क्योंकि उनके माता-पिता महान् थे और उनका सम्बन्ध महान् था। ऐसे महान् वंश में जन्म लेना भक्तिमय जीवन प्राप्त करने के लिए लाभप्रद है। विदुर को यह अवसर अपनी पूर्वजन्म की महानता के कारण प्राप्त हो सका।

भवान्भगवतो नित्यं सम्मतः सानुगस्य ह ।

यस्य ज्ञानोपदेशाय मादिशद्भगवान्ब्रजन् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

भवान्—आप ही; भगवतः—भगवान् के; नित्यम्—नित्य; सम्मतः—मान्य; स-अनुगस्य—संगियों में से एक; ह—रहे हैं; यस्य—जिसका; ज्ञान—ज्ञान; उपदेशाय—उपदेश के लिए; मा—मुझको; आदिशत्—इस तरह आदिष्ट; भगवान्—भगवान् ने; ब्रजन्—अपने धाम जाते हुए।

आप भगवान् के नित्यसंगियों में से एक हैं जिनके लिए भगवान् अपने धाम वापस जाते समय मेरे पास उपदेश छोड़ गये हैं।

तात्पर्य : मृत्यु के पश्चात् जीवन के महान् नियंत्रक यमराज जीवों के अगले जीवन के भाग्य का निर्णय करते हैं। वे निश्चय ही भगवान् के प्रतिनिधियों में सर्वाधिक विश्वसनीय हैं। ऐसे विश्वसनीय पद उन महान् भगवद्भक्तों को दिये जाते हैं, जो वैकुण्ठ में भगवान् के नित्य संगियों के समान होते हैं। चूँकि विदुर उनमें से एक थे, अतएव वैकुण्ठ वापस जाते समय भगवान् मैत्रेय के पास विदुर के लिए उपदेश छोड़ते गये। सामान्यतया भगवान् के वैकुण्ठ के संगी भौतिक जगत में नहीं आते। किन्तु कभी-

कभी भगवान् के आदेश से वे, किसी प्रशासनिक पद का भार सँभालने नहीं, अपितु भगवान् का सान्निध्य प्राप्त करने अथवा मानव समाज में भगवान् के सन्देश का प्रसार करने के लिए आते हैं। ऐसे शक्तिप्रदत्त प्रतिनिधि *शक्त्यावेश अवतार* कहलाते हैं।

अथ ते भगवल्लीला योगमायोरुबृंहिताः ।
विश्वस्थित्युद्भवान्तार्था वर्णयाम्यनुपूर्वशः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

अथ—इसलिए; ते—आपसे; भगवत्—भगवान् विषयक; लीलाः—लीलाएँ; योग-माया—भगवान् की शक्ति; उरु—अत्यधिक; बृंहिताः—विस्तारित; विश्व—विराट जगत के; स्थिति—पालन; उद्भव—सृजन; अन्त—संहार; अर्थाः—प्रयोजन; वर्णयामि—वर्णन करूँगा; अनुपूर्वशः—क्रमबद्ध रीति से।

अतएव मैं आपसे उन लीलाओं का वर्णन करूँगा जिनके द्वारा भगवान् विराट जगत के क्रमबद्ध सृजन, भरण-पोषण तथा संहार के लिए अपनी दिव्य शक्ति का विस्तार करते हैं।

तात्पर्य : सर्वशक्तिमान भगवान् अपनी विभिन्न शक्तियों के द्वारा अपनी इच्छानुसार कुछ भी कर सकते हैं। विराट जगत की सृष्टि उनकी *योगमाया* शक्ति द्वारा की जाती है।

भगवानेक आसेदमग्र आत्मात्मनां विभुः ।
आत्मेच्छानुगतावात्मा नानामत्युपलक्षणः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

भगवान्—भगवान्; एकः—अद्वय; आस—था; इदम्—यह सृष्टि; अग्रे—सृष्टि के पूर्व; आत्मा—अपने स्वरूप में; आत्मनाम्—जीवों के; विभुः—स्वामी; आत्मा—आत्मा; इच्छा—इच्छा; अनुगतौ—लीन होकर; आत्मा—आत्मा; नाना-मति—विभिन्न दृष्टियाँ; उपलक्षणः—लक्षण।

समस्त जीवों के स्वामी, भगवान् सृष्टि के पूर्व अद्वय रूप में विद्यमान थे। केवल उनकी इच्छा से ही यह सृष्टि सम्भव होती है और सारी वस्तुएँ पुनः उनमें लीन हो जाती हैं। इस परम पुरुष को विभिन्न नामों से उपलक्षित किया जाता है।

तात्पर्य : यहाँ पर महर्षि *श्रीमद्भागवत* के चार आदि श्लोकों के अभिप्राय की व्याख्या प्रारम्भ करते हैं। यद्यपि मायावाद (निर्विशेषवाद) के अनुयायियों की *श्रीमद्भागवत* तक पैठ नहीं है, किन्तु कभी-कभी वे उसके चार आदि श्लोकों की खींचतान कर काल्पनिक व्याख्या करते हैं। किन्तु हमें मैत्रेय मुनि द्वारा यहाँ पर दी गई असली व्याख्या को स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि उन्होंने इसे उद्भव के साथ प्रत्यक्ष भगवान् के मुख से सुना था। इन चार आदि श्लोकों की प्रथम पंक्ति है *अहम् एवासम्*

एवाग्रे। मायावादी इस अहम् शब्द की ऐसी गलत व्याख्या करते हैं जिसे व्याख्याकार के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं समझ सकता। यहाँ पर अहम् की व्याख्या परम पुरुषोत्तम भगवान् के अर्थ में की गई है, व्यष्टि जीवों के अर्थ में नहीं। सृष्टि के पूर्व केवल भगवान् थे। तब कोई भी पुरुष-अवतार नहीं थे और जीव तो थे ही नहीं, न ही भौतिक शक्ति थी जिससे व्यक्त सृष्टि प्रभावित होती है। तब सारे पुरुष-अवतार तथा भगवान् की सारी विभिन्न शक्तियाँ एकमात्र भगवान् में समाहित थीं।

यहाँ पर भगवान् को अन्य समस्त जीवों का स्वामी कहा गया है। वे सूर्यगोलक के तुल्य हैं और सारे जीव सूर्य की किरणों के अणु के तुल्य हैं। सृष्टि के पूर्व भगवान् के अस्तित्व की पुष्टि श्रुतियों द्वारा हुई है—वासुदेवो वा इदं अग्र आसीत् न ब्रह्मा न च शङ्करः। एको वै नारायण आसीन्न ब्रह्मा नेशानाः। चूँकि प्रत्येक वस्तु भगवान् से उद्भूत है, वे सदैव अकेले अद्वय रूप में विद्यमान रहते हैं। वे इस तरह विद्यमान रह सकते हैं, क्योंकि वे सर्व-सम्पूर्ण तथा सर्वशक्तिमान हैं। उनके अतिरिक्त हर वस्तु, यहाँ तक कि उनके स्वांश विष्णुत्व भी, उनके अंश हैं। सृष्टि के पूर्व न तो कारणार्णवशायी विष्णु थे, न गर्भोदकशायी विष्णु या क्षीरोदकशायी विष्णु या ब्रह्मा अथवा शंकर ही थे। विष्णुत्व तथा ब्रह्मा इत्यादि सारे जीव भिन्नांश हैं। यद्यपि आध्यात्मिक जगत भगवान् के साथ था, किन्तु भौतिक जगत उनमें सुसुप्त था। केवल उनकी इच्छा से भौतिक जगत बनता तथा बिगड़ता है। वैकुण्ठलोक की विविधता भगवान् से एकाकार है, जिस तरह सैनिकों की विविधता राजा से तदाकार होती है। जैसाकि भगवद्गीता (९.७) में बतलाया गया है भौतिक सृष्टि भगवान् की इच्छा से होती है और सृष्टि तथा प्रलय के कुछ अन्तराल के बीच की अवधियों में जीव तथा भौतिक शक्ति उनमें सुसुप्त रहते हैं।

स वा एष तदा द्रष्टा नापश्यद्दृश्यमेकराट् ।

मेनेऽसन्तमिवात्मानं सुप्तशक्तिरसुप्तदृक् ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

सः—भगवान्; वा—अथवा; एषः—ये सभी; तदा—उस समय; द्रष्टा—देखने वाला; न—नहीं; अपश्यत्—देखा; दृश्यम्—विराट् सृष्टि; एकराट्—निर्विवाद स्वामी; मेने—इस तरह सोचा; असन्तम्—अविद्यमान; इव—सदृश; आत्मानम्—स्वांश रूप; सुप्त—अव्यक्त; शक्तिः—भौतिक शक्ति; असुप्त—व्यक्त; दृक्—अन्तरंगा शक्ति।

हर वस्तु के निर्विवाद स्वामी भगवान् ही एकमात्र द्रष्टा थे। उस समय विराट् जगत का अस्तित्व न था, अतः अपने स्वांशों तथा भिन्नांशों के बिना वे अपने को अपूर्ण अनुभव कर रहे

थे। तब भौतिक शक्ति सुसुप्त थी जबकि अन्तरंगा शक्ति व्यक्त थी।

तात्पर्य : भगवान् परम द्रष्टा हैं, क्योंकि उनकी चितवन मात्र से भौतिक शक्ति विराट सृष्टि के लिए गतिशील हुई। उस समय द्रष्टा तो था, किन्तु बहिरंगा शक्ति, जिस पर भगवान् अपनी चितवन फेरते हैं, उपस्थित नहीं थी। उन्हें कुछ अधूरा सा लग रहा था जिस तरह पति को पत्नी की अनुपस्थिति में अकेलापन अनुभव होता है। यह कथात्मक उपमा है। भगवान् ने उन बद्ध आत्माओं को जो विस्मृति में सुप्त थीं, दूसरा अवसर प्रदान करने के लिए विराट सृष्टि का सृजन करना चाहा। विराट सृष्टि बद्धजीवों को भगवद्धाम वापस जाने का अवसर प्रदान करती है और यही इसका मुख्य उद्देश्य है। भगवान् इतने कृपालु हैं कि ऐसी सृष्टि की अनुपस्थिति में ऐसा अनुभव करते हैं कि जैसे किसी वस्तु की कमी हो और इस तरह सृष्टि की रचना होती है। यद्यपि अन्तरंगा शक्ति की सृष्टि व्यक्त थी, किन्तु दूसरी शक्ति सुप्त प्रतीत हो रही थी। भगवान् उसे जगाकर गतिशील बनाना चाहते थे जिस तरह पति अपनी सोई हुई पत्नी को रमण के लिए जगाना चाहता है। यह तो सुप्त शक्ति पर भगवान् का अनुग्रह है कि वे उसे रमण के लिए जागृत देखना चाहते हैं जिस तरह अन्य पत्नियाँ जागृत हैं। सारी प्रक्रिया सुप्त बद्धजीवों को आध्यात्मिक चेतना के असली जीवन में लाने की है, जिससे वे उसी तरह पूर्ण बन सकें जिस तरह कि वैकुण्ठलोक की नित्यमुक्त आत्माएँ। चूँकि भगवान् सच्चिदानन्द विग्रह हैं, अतएव वे आनन्दमय रस में अपनी विभिन्न शक्तियों के हर भिन्नांश को भागीदार बनाना चाहते हैं, क्योंकि भगवान् की नित्य रासलीला में भगवान् के साथ सम्मिलित होना सर्वोच्च जागृत अवस्था है, जो आध्यात्मिक आनन्द तथा नित्य ज्ञान से परिपूर्ण है।

सा वा एतस्य संद्रष्टुः शक्तिः सदसदात्मिका ।

माया नाम महाभाग ययेदं निर्ममे विभुः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

सा—वह बहिरंगा शक्ति; वा—अथवा है; एतस्य—भगवान् की; संद्रष्टुः—पूर्ण द्रष्टा की; शक्तिः—शक्ति; सत्-असत्-आत्मिका—कार्य तथा कारण दोनों रूप में; माया नाम—माया नामक; महा-भाग—हे भाग्यवान्; यया—जिससे; इदम्—यह भौतिक जगत; निर्ममे—निर्मित किया; विभुः—सर्वशक्तिमान् ने।

भगवान् द्रष्टा हैं और बहिरंगा शक्ति, जो दृष्टिगोचर है, विराट जगत में कार्य तथा कारण दोनों रूप में कार्य करती है। हे महाभाग विदुर, यह बहिरंगा शक्ति माया कहलाती है और केवल

इसी के माध्यम से सम्पूर्ण भौतिक जगत सम्भव होता है।

तात्पर्य : माया कहलाने वाली भौतिक प्रकृति ब्रह्माण्डों का भौतिक तथा सक्षम कारण है, किन्तु पृष्ठभूमि में इन सभी कार्यों के लिए भगवान् चेतनास्वरूप हैं। जिस तरह व्यष्टि शरीर में चेतना ही शरीर की समस्त शक्तियों का स्रोत होती है, उसी तरह भगवान् की परम चेतना भौतिक प्रकृति में समस्त शक्तियों की स्रोत है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (९.१०) में इस प्रकार हुई है—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।

हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥

“भौतिक प्रकृति की समस्त शक्तियों में अन्तिम अधीक्षक के रूप में भगवान् का हाथ रहता है। इस परम कारण के फलस्वरूप ही भौतिक प्रकृति के सारे कार्य सुनियोजित एवं व्यवस्थित प्रतीत होते हैं और सारी वस्तुएँ नियमित रूप से विकसित होते जाती हैं।”

कालवृत्त्या तु मायायां गुणमय्यामधोक्षजः ।

पुरुषेणात्मभूतेन वीर्यमाधत्त वीर्यवान् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

काल—शाश्वत काल के; वृत्त्या—प्रभाव से; तु—लेकिन; मायायाम्—बहिरंगा शक्ति में; गुण-मय्याम्—प्रकृति के गुणात्मक रूप में; अधोक्षजः—ब्रह्म; पुरुषेण—पुरुष के अवतार द्वारा; आत्म-भूतेन—जो भगवान् का स्वांश है; वीर्यम्—जीवों का बीज; आधत्त—संस्थापित किया; वीर्यवान्—परम पुरुष ने।

अपने स्वांश दिव्य पुरुष अवतार के रूप में परम पुरुष प्रकृति के तीन गुणों में बीज संस्थापित करता है और इस तरह नित्य काल के प्रभाव से सारे जीव प्रकट होते हैं।

तात्पर्य : किसी भी जीव की सन्तान पिता द्वारा माता के गर्भ में वीर्य संस्थापित किये जाने पर उत्पन्न होती है और पिता के वीर्य में तैरता जीव माता का स्वरूप धारण करता है। इसी तरह मातारूपी भौतिक प्रकृति अपने भौतिक तत्त्वों से तब तक किसी जीव को उत्पन्न नहीं कर सकती जब तक स्वयं भगवान् उसे जीवों से गर्भित नहीं बनाते। जीवों की उत्पत्ति का यही रहस्य है। यह गर्भाधान की क्रिया प्रथम पुरुष अवतार कारणार्णवशायी विष्णु द्वारा सम्पन्न की जाती है। केवल उनके दृष्टिपात से यह सारा काम पूरा हो जाता है।

हमें भगवान् द्वारा गर्भाधान की विधि को अपनी यौन-धारणा के रूप में नहीं समझना चाहिए।

सर्वशक्तिमान् भगवान् केवल अपनी आँखों से भी गर्भाधान कर सकते हैं, इसलिए वे सर्वशक्तिमान् कहलाते हैं। उनके दिव्य शरीर का प्रत्येक अंग अन्य अंगों का कार्य कर सकता है। इसकी पुष्टि ब्रह्म-संहिता (५.३२) में हुई है—*अंगानि यस्य सकलेन्द्रियवृत्तिमन्ति। भगवद्गीता (१४.३)* में भी इसी सिद्धान्त की पुष्टि हुई है—*मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्*। जब विराट् जगत् व्यक्त होता है, तो जीवों की आपूर्ति सीधे भगवान् से होती है, वे भौतिक प्रकृति की उपज नहीं होते। इस तरह भौतिक विज्ञान की कोई भी वैज्ञानिक प्रगति कभी कोई जीव उत्पन्न नहीं कर सकती। भौतिक सृष्टि का यही सम्पूर्ण रहस्य है। जीवात्माएँ पदार्थ से विजातीय होते हैं, अतएव जब तक वे भगवान् जैसे आध्यात्मिक जीवन में स्थित नहीं हो जाते, वे सुखी नहीं हो सकते। दिग्भ्रमित जीव अपने जीवन की इस आदि स्थिति की विस्मृति के कारण इस भौतिक जगत् में सुखी बनने के लिए व्यर्थ समय गँवाता है। सम्पूर्ण वैदिक प्रक्रिया जीव को जीवन के इसी अनिवार्य स्वरूप का स्मरण दिलाने के लिए है। भगवान् बद्धात्मा को उसके तथाकथित भोग के लिए भौतिक शरीर प्रदान करते हैं और यदि वह चेतता नहीं और आध्यात्मिक चेतना में प्रविष्ट नहीं होता तो भगवान् उसे पुनः उसी अव्यक्त अवस्था में डाल देते हैं जिसमें वह सृष्टि के प्रारम्भ में था। यहाँ पर भगवान् को *वीर्यवान्* कहा गया है, क्योंकि वे भौतिक प्रकृति में उन असंख्य जीवों का गर्भाधान करते हैं, जो अनादि काल से बद्ध हैं।

ततोऽभवन्महत्तत्त्वमव्यक्तात्कालचोदितात् ।

विज्ञानात्मात्मदेहस्थं विश्वं व्यञ्जंस्तमोनुदः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; अभवत्—जन्म हुआ; महत्—परम; तत्त्वम्—सार; अव्यक्तात्—अव्यक्त से; काल-चोदितात्—काल की अन्तःक्रिया से; विज्ञान-आत्मा—शुद्ध सत्त्व; आत्म-देह-स्थम्—शारीरिक आत्मा में स्थित; विश्वम्—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड; व्यञ्जन्—प्रकट करते हुए; तमः-नुदः—परम प्रकाश।

तत्पश्चात् नित्यकाल की अन्तःक्रियाओं से प्रभावित पदार्थ का परम सार, जो कि महत् तत्त्व कहलाता है, प्रकट हुआ और इस महत् तत्त्व में शुद्ध सत्त्व अर्थात् भगवान् ने अपने शरीर से ब्रह्माण्ड अभिव्यक्ति के बीज बोये।

तात्पर्य : कालक्रम से गर्भित भौतिक शक्ति सर्वप्रथम सम्पूर्ण भौतिक अवयवों के रूप में प्रकट हुई। फलित होने में हर वस्तु अपना समय लेती है, अतएव *कालचोदितात्* (काल द्वारा प्रभावित) शब्द

का यहाँ पर प्रयोग हुआ है। महत् तत्त्व सम्पूर्ण चेतना है, क्योंकि इसका एक अंश हर एक में बुद्धि के रूप में प्रदर्शित होता है। महत् तत्त्व परम पुरुष की परम चेतना से सीधे जुड़ा है, फिर भी यह पदार्थ के रूप में प्रतीत होता है। महत् तत्त्व अथवा शुद्ध चेतना का प्रतिबिम्ब समस्त सृष्टि की अंकुरणस्थली है। यह रजोगुण से थोड़ा सामिश्रित शुद्ध सत्त्व है, अतएव यहीं से गतिशीलता उत्पन्न होती है।

सोऽप्यंशगुणकालात्मा भगवद्दृष्टिगोचरः ।

आत्मानं व्यकरोदात्मा विश्वस्यास्य सिसृक्षया ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

सः—महत् तत्त्व; अपि—भी; अंश—पुरुष स्वांश; गुण—मुख्यतया तमोगुण; काल—काल की अवधि; आत्मा—पूर्णचेतना; भगवत्—भगवान् की; दृष्टि-गोचरः—दृष्टि की सीमा; आत्मानम्—अनेक भिन्न-भिन्न रूपों को; व्यकरोत्—विभेदित; आत्मा—आगार; विश्वस्य—होने वाले जीवों का; अस्य—इस; सिसृक्षया—मिथ्या अहंकार को उत्पन्न करता है।

तत्पश्चात् महत् तत्त्व अनेक भिन्न-भिन्न भावी जीवों के आगार रूपों में विभेदित हो गया।

यह महत् तत्त्व मुख्यतया तमोगुणी होता है और यह मिथ्या अहंकार को जन्म देता है। यह भगवान् का स्वांश है, जो सर्जनात्मक सिद्धान्तों की पूर्ण चेतना तथा फलनकाल से युक्त होता है।

तात्पर्य : महत् तत्त्व शुद्ध आत्मा एवं भौतिक जगत के बीच का माध्यम है। यह पदार्थ तथा आत्मा का सन्धिस्थल है जहाँ से जीव का मिथ्या अहंकार उत्पन्न होता है। सारे जीव भगवान् के भिन्नांश हैं। मिथ्या अहंकार के दबाव में आकर बद्धात्माएँ पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के भिन्नांश होते हुए भी भौतिक प्रकृति की भोक्ता होने का दावा करती हैं। यह मिथ्या अहंकार भौतिक जगत की बन्धक शक्ति है। भगवान् मोहग्रस्त बद्धात्माओं को इस मिथ्या अहंकार से मुक्त होने के लिए बारम्बार अवसर प्रदान करते हैं, इसी के कारण भौतिक सृष्टि कालान्तरों पर होती है। वे बद्धात्माओं को अपने मिथ्या अहंकार के कार्यों को सुधारने की सारी सुविधाएँ प्रदान करते हैं, किन्तु वे भगवान् के भिन्नांश होने की उनकी यत्किंचित स्वतंत्रता में व्यवधान नहीं डालते।

महत्तत्त्वाद्विकुर्वाणादहंतत्त्वं व्यजायत ।

कार्यकारणकर्त्रात्मा भूतेन्द्रियमनोमयः ।

वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिधा ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

महत्—महान्; तत्त्वात्—कारणस्वरूप सत्य से; विकुर्वाणात्—रूपान्तरित होने से; अहम्—मिथ्या अहंकार; तत्त्वम्—भौतिक सत्य; व्यजायत—प्रकट हुआ; कार्य—प्रभाव; कारण—कारण; कर्तृ—कर्ता; आत्मा—आत्मा या स्रोत; भूत—भौतिक अवयव; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; मनः-मयः—मानसिक धरातल पर मँडराता; वैकारिकः—सतोगुण; तैजसः—रजोगुण; च—तथा; तामसः—तमोगुण; च—तथा; इति—इस प्रकार; अहम्—मिथ्या अहंकार; त्रिधा—तीन प्रकार।

महत् तत्त्व या महान् कारण रूप सत्य मिथ्या अहंकार में परिणत होता है, जो तीन अवस्थाओं में—कारण, कार्य तथा कर्ता के रूप में—प्रकट होता है। ऐसे सारे कार्य मानसिक धरातल पर होते हैं और वे भौतिक तत्त्वों, स्थूल इन्द्रियों तथा मानसिक चिन्तन पर आधारित होते हैं। मिथ्या अहंकार तीन विभिन्न गुणों—सतो, रजो तथा तमो—में प्रदर्शित होता है।

तात्पर्य : शुद्ध जीवात्मा अपने आदि आध्यात्मिक अस्तित्व में भगवान् के नित्यदास के रूप में अपनी स्वाभाविक स्थिति से पूर्णतया सचेत रहता है। सारी आत्माएँ जो ऐसी शुद्ध चेतनाओं में स्थित होती हैं मुक्त होती हैं, अतएव वे आध्यात्मिक आकाश में विभिन्न वैकुण्ठलोकों में आनन्द तथा ज्ञान में नित्य निवास करती हैं। जब भौतिक सृष्टि प्रकट होती है, तो यह उनके निमित्त नहीं होती। नित्य मुक्त आत्माएँ नित्यमुक्त कहलाती हैं जिनका भौतिक सृष्टि से कोई वास्ता नहीं रहता। भौतिक सृष्टि उन विद्रोही आत्माओं के निमित्त है, जो भगवान् की अधीनता स्वीकार करने को तैयार नहीं होतीं। मिथ्या स्वामित्व की यह भावना मिथ्या अहंकार कहलाती है। यह प्रकृति के तीन गुणों में व्यक्त होती है और यह केवल मानसिक चिन्तन में विद्यमान रहती है। जो लोग सतोगुणी होते हैं, वे प्रत्येक व्यक्ति को ईश्वर समझते हैं और इस तरह वे उन शुद्ध भक्तों का परिहास करते हैं, जो भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगे रहने का प्रयास करते हैं। जो लोग रजोगुण के कारण गर्वित रहते हैं, वे प्रकृति पर अनेक प्रकार से प्रभुत्व जताने का प्रयास करते हैं। इनमें से कुछ लोग उपकारी कार्यों में लगे रहते हैं मानो वे अपनी मानसिक चिन्तनशील योजनाओं के द्वारा अन्यो का कल्याण करने के लिए नियुक्त एजेण्ट हों। ऐसे लोग लौकिक उपकार के आदर्श नियमों को स्वीकार करते हैं, किन्तु उनकी योजनाएँ मिथ्या अहंकार के आधार पर बनती हैं। यह मिथ्या अहंकार भगवान् से एकाकार होने की सीमा तक विस्तार करता है। अहंकारी बद्धात्माओं की अन्तिम श्रेणी—जो तमोगुणी होती है—स्थूल शरीर के साथ आत्मा की पहचान करने के कारण दिग्भ्रमित रहती है। इस तरह उनके सारे कार्यकलाप केवल शरीर के चारों ओर केन्द्रित रहते हैं। इन सारे व्यक्तियों को मिथ्या अहंकारवादी विचारों से खिलवाड़ करने का अवसर

प्रदान किया जाता है, किन्तु साथ ही भगवान् इतने दयालु हैं कि वे उन्हें भगवद्गीता तथा श्रीमद्भागवत जैसे शास्त्रों की सहायता लेने का अवसर प्रदान करते हैं जिससे वे कृष्णविज्ञान को समझ सकें और अपने जीवन सफल बना सकें। इसलिए सम्पूर्ण भौतिक सृष्टि उन मिथ्या अहंकारवादी जीवों के लिए होती है, जो प्रकृति के गुणों के अधीन विभिन्न मोहों के अन्तर्गत मानसिक धरातल पर मँडराते रहते हैं।

अहंतत्त्वाद्विकुर्वाणान्मनो वैकारिकादभूत् ।

वैकारिकाश्च ये देवा अर्थाभिव्यञ्जनं यतः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

अहम्-तत्त्वात्—मिथ्या अहंकार के तत्त्व से; विकुर्वाणात्—रूपान्तर द्वारा; मनः—मन; वैकारिकात्—सतो गुण के साथ अन्तःक्रिया द्वारा; अभूत्—उत्पन्न हुआ; वैकारिकाः—अच्छाई से अन्तःक्रिया द्वारा; च—भी; ये—ये सारे; देवाः—देवता; अर्थ—घटना सम्बन्धी; अभिव्यञ्जनम्—भौतिक ज्ञान; यतः—स्रोत।

मिथ्या अहंकार सतो गुण से अन्तःक्रिया करके मन में रूपान्तरित हो जाता है। सारे देवता भी जो घटनाप्रधान जगत् को नियंत्रित करते हैं, उसी सिद्धान्त (तत्त्व), अर्थात् मिथ्या अहंकार तथा सतो गुण की अन्तःक्रिया के परिणाम हैं।

तात्पर्य : मिथ्या अहंकार प्रकृति के विभिन्न गुणों से अन्तःक्रिया करके घटनाप्रधान जगत् में समस्त वस्तुओं का स्रोत है।

तैजसानीन्द्रियाण्येव ज्ञानकर्ममयानि च ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

तैजसानि—रजोगुण; इन्द्रियाणि—इन्द्रियाँ; एव—निश्चय ही; ज्ञान—ज्ञान, दार्शनिक चिन्तन; कर्म—सकाम कर्म; मयानि—प्रधान रूप से; च—भी।

इन्द्रियाँ निश्चय ही मिथ्या अहंकारजन्य रजोगुण की परिणाम हैं, अतएव दार्शनिक चिन्तनपरक ज्ञान तथा सकाम कर्म रजोगुण के प्रधान उत्पाद हैं।

तात्पर्य : मिथ्या अहंकार का प्रधान कार्य ईश्वरविहीनता है। जब कोई व्यक्ति भगवान् के नित्य अधीन अंश के रूप में अपनी स्वाभाविक स्थिति को भूल जाता है और स्वतंत्र रूप से सुखी बनना चाहता है, तो वह मुख्यतः दो तरह से कार्य करता है। सर्वप्रथम वह अपने निजी लाभ या इन्द्रियतृप्ति के लिए सकाम कर्म करने का प्रयास करता है और दीर्घकाल तक ऐसे सकाम कर्म करते रहने के बाद जब वह हताश हो जाता है, तो वह दार्शनिक चिन्तक बन जाता है और अपने को ईश्वर-जैसे स्तर पर

समझने लगता है। भगवान् से तदाकार होने का यह मिथ्या विचार माया का अन्तिम पाश होता है, जो जीव को मिथ्या अहंकार के अधीन विस्मृति के बन्धन में फँसा लेती है।

मिथ्या अहंकार के पाश से मुक्ति का सर्वोत्तम उपाय है परब्रह्म के विषय में दार्शनिक चिन्तन की आदत का परित्याग। मनुष्य को निश्चित रूप से यह जान लेना चाहिए कि परब्रह्म का साक्षात्कार अपूर्ण अहंकारी व्यक्ति के दार्शनिक चिन्तन द्वारा कभी नहीं हो सकता। परब्रह्म या पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का साक्षात्कार ऐसे प्रामाणिक अधिकारी से उनके विषय में विनय तथा प्रेमपूर्वक श्रवण द्वारा किया जा सकता है, जो बारह महाजनों में से एक हो, जिसका उल्लेख *श्रीमद्भागवत* में हुआ है। ऐसे प्रयास के द्वारा ही मनुष्य भगवान् की मोहमयी शक्ति को जीत सकता है, यद्यपि अन्यो के लिए यह दुर्लभ है, जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (७.१४) में हुई है।

तामसो भूतसूक्ष्मादिर्यतः खं लिङ्गमात्मनः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

तामसः—तमोगुण से; भूत-सूक्ष्म-आदिः—सूक्ष्म इन्द्रिय विषय; यतः—जिससे; खम्—आकाश; लिङ्गम्—प्रतीकात्मक स्वरूप; आत्मनः—परमात्मा का।

आकाश ध्वनि का परिणाम है और ध्वनि अहंकारात्मक काम का रूपान्तर (विकार) है।

दूसरे शब्दों में आकाश परमात्मा का प्रतीकात्मक प्रतिनिधित्व है।

तात्पर्य : वैदिक स्तुतियों में कहा गया है—*एतस्माद् आत्मनः आकाशः सम्भूतः*। आकाश परमात्मा की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है। जो लोग रजो तथा तमो गुणों में अहंकारी है वे भगवान् की अनुभूति नहीं कर सकते। उनके लिए आकाश परमात्मा की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है।

कालमायांशयोगेन भगवद्वीक्षितं नभः ।

नभसोऽनुसृतं स्पर्शं विकुर्वन्निर्ममेऽनिलम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

काल—काल; माया—बहिरंगा शक्ति; अंश-योगेन—अंशतःमिश्रित; भगवत्—भगवान्; वीक्षितम्—दृष्टिपात किया हुआ; नभः—आकाश; नभसः—आकाश से; अनुसृतम्—इस तरह स्पर्शित होकर; स्पर्शम्—स्पर्श; विकुर्वत्—रूपान्तरित होकर; निर्ममे—निर्मित हुआ; अनिलम्—वायु।

तत्पश्चात् भगवान् ने आकाश पर नित्यकाल तथा बहिरंगा शक्ति से अंशतः मिश्रित दृष्टिपात

किया और इस तरह स्पर्श की अनुभूति विकसित हुई जिससे आकाश में वायु उत्पन्न हुई।

तात्पर्य : सारी भौतिक सृष्टियाँ सूक्ष्म से स्थूल बनती हैं। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड इसी तरह से विकसित हुआ है। आकाश से स्पर्श अनुभूति विकसित हुई जो नित्यकाल, बहिरंगा शक्ति तथा भगवान् के दृष्टिपात का मिश्रण है। यह स्पर्श अनुभूति आकाश में वायु के रूप में विकसित हो गई। इसी तरह अन्य सारा स्थूल पदार्थ भी सूक्ष्म से स्थूल में विकसित हुआ—ध्वनि आकाश में, स्पर्श वायु में, रूप अग्नि में, स्वाद जल में तथा गन्ध पृथ्वी में विकसित हुई।

अनिलोऽपि विकुर्वाणो नभसोरुबलान्वितः ।

ससर्ज रूपतन्मात्रं ज्योतिर्लोकस्य लोचनम् ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

अनिलः—वायु; अपि—भी; विकुर्वाणः—रूपान्तरित होकर; नभसा—आकाश; उरु-बल-अन्वितः—अत्यन्त शक्तिशाली; ससर्ज—उत्पन्न किया; रूप—रूप; तत्-मात्रम्—इन्द्रिय अनुभूति, तन्मात्रा; ज्योतिः—बिजली; लोकस्य—संसार के; लोचनम्—देखने के लिए प्रकाश।

तत्पश्चात् अतीव शक्तिशाली वायु ने आकाश से अन्तःक्रिया करके इन्द्रिय अनुभूति (तन्मात्रा) का रूप उत्पन्न किया और रूप की अनुभूति बिजली में रूपान्तरित हो गई जो संसार को देखने के लिए प्रकाश है।

अनिलेनान्वितं ज्योतिर्विकुर्वत्परवीक्षितम् ।

आधत्ताम्भो रसमयं कालमायांशयोगतः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

अनिलेन—वायु द्वारा; अन्वितम्—अन्तःक्रिया करते हुए; ज्योतिः—बिजली; विकुर्वत्—रूपान्तरित होकर; परवीक्षितम्—ब्रह्म द्वारा दृष्टिपात किया जाकर; आधत्त—उत्पन्न किया; अम्भः रस-मयम्—स्वाद से युक्त जल; काल—नित्य काल का; माया-अंश—तथा बहिरंगा शक्ति; योगतः—मिश्रण द्वारा।

जब वायु में बिजली की क्रिया हुई और उस पर ब्रह्म ने दृष्टिपात किया उस समय नित्यकाल तथा बहिरंगा शक्ति के मिश्रण से जल तथा स्वाद की उत्पत्ति हुई।

ज्योतिषाम्भोऽनुसंसृष्टं विकुर्वद्ब्रह्मवीक्षितम् ।

महीं गन्धगुणामाधात्कालमायांशयोगतः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

ज्योतिषा—बिजली; अम्भः—जल; अनुसंसृष्टम्—इस प्रकार उत्पन्न हुआ; विकुर्वत्—रूपान्तर के कारण; ब्रह्म—ब्रह्म द्वारा; वीक्षितम्—दृष्टिपात किया गया; महीम्—पृथ्वी; गन्ध—गन्ध; गुणाम्—गुण; आधात्—उत्पन्न किया गया; काल—नित्य काल; माया—बहिरंगा शक्ति; अंश—अंशतः; योगतः—अन्तःमिश्रण से।

तत्पश्चात् बिजली से उत्पन्न जल पर भगवान् ने दृष्टिपात किया और फिर उसमें नित्यकाल तथा बहिरंगा शक्ति का मिश्रण हुआ। इस तरह वह पृथ्वी में रूपान्तरित हुआ जो मुख्यतः गन्ध के गुण से युक्त है।

तात्पर्य : उपर्युक्त श्लोकों में भौतिक तत्त्वों के वर्णनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि सभी अवस्थाओं में अन्य संयोगों तथा परिवर्तनों के साथ भगवान् के दृष्टिपात की आवश्यकता पड़ती है। प्रत्येक रूपान्तर में भगवान् का दृष्टिपात ही अन्तिम पूर्णता प्रदान करता है। वे एक चित्रकार की भाँति कार्य करते हैं, जो विभिन्न रंगों को मिलाकर उन्हें विशेष रंग में रूपान्तरित कर देता है। जब एक तत्त्व दूसरे तत्त्व से मिलता है, तो इसके गुणों में वृद्धि होती है। उदाहरणार्थ, आकाश वायु का कारण है। आकाश में ध्वनि नामक केवल एक गुण होता है, किन्तु आकाश तथा भगवान् के दृष्टिपात की अन्तःक्रिया से नित्यकाल तथा बहिरंगा प्रकृति के मिलने से वायु उत्पन्न होती है, जिसमें दो गुण पाये जाते हैं—ध्वनि तथा स्पर्श। इसी तरह वायु उत्पन्न हो जाने पर आकाश तथा वायु की अन्तःक्रिया काल तथा भगवान् की बहिरंगा शक्ति के स्पर्श के कारण बिजली उत्पन्न करती है। और वायु तथा आकाश के साथ बिजली की अन्तःक्रिया काल, बहिरंगा शक्ति तथा उन पर भगवान् के दृष्टिपात के मिश्रण से जल उत्पन्न करती है। आकाश की अन्तिम अवस्था में केवल एक गुण रहता है—वह है ध्वनि; वायु में दो गुण रहते हैं—ध्वनि तथा स्पर्श; बिजली में तीन गुण होते हैं—ध्वनि, स्पर्श तथा रूप और जल में चार गुण होते हैं—ध्वनि, स्पर्श, रूप तथा स्वाद। भौतिक विकास की अन्तिम अवस्था में पृथ्वी फलित होती है, जो समस्त पाँचों गुणों अर्थात् ध्वनि, स्पर्श, रूप, स्वाद तथा गन्ध से युक्त होती है। यद्यपि वे विभिन्न पदार्थों के भिन्न-भिन्न मिश्रण हैं, किन्तु ऐसे मिश्रण स्वतः नहीं बन जाते जिस तरह कि जीवित चित्रकार के स्पर्श के बिना रंगों का मिश्रण स्वतः नहीं हो पाता। यह स्वतः प्रणाली वास्तव में भगवान् के दृष्टिपात रूपी स्पर्श द्वारा क्रियाशील होती है। समस्त भौतिक परिवर्तनों में सजीव चेतना ही निर्णायक होती है। इस तथ्य का उल्लेख भगवद्गीता (९.१०) में निम्नवत् हुआ है—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।

हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥

निष्कर्ष यह है कि भले ही भौतिक तत्त्व सामान्य-जनों की दृष्टि में आश्चर्यजनक रीति से कार्य करें,

किन्तु उनका क्रिया-व्यापार वस्तुतः भगवान् के निरीक्षण में होता है। जो लोग भौतिक तत्त्वों के परिवर्तनों को ही देख सकते हैं और उनके पीछे भगवान् के अदृश्य हाथों का अनुभव नहीं कर सकते हैं, वे निश्चय ही कम बुद्धिमान व्यक्ति होते हैं भले ही वे महान् भौतिक विज्ञानियों के रूप में विज्ञापित किये जा रहे हों।

भूतानां नभआदीनां यद्यद्भव्यावरावरम् ।
तेषां परानुसंसर्गाद्यथा सङ्ख्यं गुणान्विदुः ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

भूतानाम्—सारे भौतिक तत्त्वों का; नभः—आकाश; आदीनाम्—इत्यादि; यत्—जिस तरह; यत्—तथा जिस तरह; भव्य—हे सौम्य; अवर—निकृष्ट; वरम्—श्रेष्ठ; तेषाम्—उन सबों का; पर—परम, ब्रह्म; अनुसंसर्गात्—अन्तिम स्पर्श; यथा—जितने; सङ्ख्यम्—गिनती; गुणान्—गुण; विदुः—आप समझ सकें।

हे भद्र पुरुष, आकाश से लेकर पृथ्वी तक के सारे भौतिक तत्त्वों में जितने सारे निम्न तथा श्रेष्ठ गुण पाये जाते हैं, वे भगवान् के दृष्टिपात के अन्तिम स्पर्श के कारण होते हैं।

एते देवाः कला विष्णोः कालमायांशलिङ्गिनः ।
नानात्वात्स्वक्रियानीशाः प्रोचुः प्राञ्जलयो विभुम् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

एते—इन सारे भौतिक तत्त्वों में; देवाः—नियंत्रक देवता; कलाः—अंश; विष्णोः—भगवान् के; काल—काल; माया—बहिरंगा शक्ति; अंश—अंश; लिङ्गिनः—इस तरह देहधारी; नानात्वात्—विभिन्नता के कारण; स्व-क्रिया—निजी कार्य; अनीशाः—न कर पाने के कारण; प्रोचुः—कहा; प्राञ्जलयः—मनोहारी; विभुम्—भगवान् को।

उपर्युक्त समस्त भौतिक तत्त्वों के नियंत्रक देव भगवान् विष्णु के शक्त्याविष्ट अंश हैं। वे बहिरंगा शक्ति के अन्तर्गत नित्यकाल द्वारा देह धारण करते हैं और वे भगवान् के अंश हैं। चूँकि उन्हें ब्रह्माण्डीय दायित्वों के विभिन्न कार्य सौंपे गये थे और चूँकि वे उन्हें सम्पन्न करने में असमर्थ थे, अतएव उन्होंने भगवान् की मनोहारी स्तुतियाँ निम्नलिखित प्रकार से कीं।

तात्पर्य : ब्रह्माण्डीय कार्य व्यापार की व्यवस्था के लिए उच्चतर लोकों में निवास करने वाले विविध नियंत्रक देवताओं की अवधारणा काल्पनिक नहीं है जैसाकि अल्पज्ञ व्यक्ति प्रस्तावित करते हैं। ये देवतागण भगवान् विष्णु के विस्तारित अंश हैं और ये काल, बहिरंगा शक्ति तथा परमेश्वर की आंशिक चेतना द्वारा देह पाते हैं। मनुष्य, पशु, पक्षी इत्यादि भी भगवान् के अंश हैं और उनके भी विभिन्न भौतिक शरीर होते हैं, किन्तु वे भौतिक मामलों के नियंत्रक देवता नहीं हैं प्रत्युत वे ऐसे

देवताओं द्वारा नियंत्रित होते हैं। ऐसा नियंत्रण निरर्थक नहीं होता। यह उतना ही आवश्यक है जितना कि आधुनिक राज्य के मामलों के लिए नियंत्रक विभाग होते हैं। नियंत्रित जीवों द्वारा देवताओं का तिरस्कार नहीं होना चाहिए। वे सभी भगवान् के महान् भक्त होते हैं, जिन्हें विश्व के मामलों के कुछ कार्य सम्पन्न करने का भार सौंपा गया है। कोई व्यक्ति यमराज पर क्रुद्ध हो सकता है कि वह पापी आत्माओं को दण्ड देने का अप्रशंसित कार्य करता है, किन्तु यमराज भगवान् के अधिकृत भक्तों में से हैं। इसी तरह अन्य सारे देवता हैं। भगवद्भक्त कभी भी ऐसे नियुक्त देवताओं द्वारा नियंत्रित नहीं होता जो कि भगवान् के सहायक के रूप में कार्य करते हैं, किन्तु भक्त उनके उन उत्तरदायित्वपूर्ण पदों के कारण उनका सम्मान करता है जिन पर भगवान् ने उन्हें नियुक्त किया है। साथ ही, भगवद्भक्त उन्हें मूर्खतावश परमेश्वर नहीं मान बैठता। केवल मूर्ख लोग ही देवताओं को विष्णु के तुल्य मानते हैं। वस्तुतः वे सभी विष्णु के सेवकों के रूप में नियुक्त हैं।

जो कोई भी भगवान् तथा देवताओं को समान स्तर पर रखता है, वह *पाषण्डी* या नास्तिक कहलाता है। देवताओं की पूजा उन्हीं व्यक्तियों द्वारा की जाती है, जो न्यूनाधिक *ज्ञान*, *योग* तथा *कर्म* की विधियों के पालक हैं—अर्थात् निर्विशेषवादी, ध्यानी तथा सकाम कर्मी हैं। किन्तु भक्तगण एकमात्र भगवान् विष्णु की पूजा करते हैं। यह पूजा किसी भौतिक लाभ के लिए नहीं होती जिसकी कामना सारे भौतिकतावादियों द्वारा, यहाँ तक कि मोक्षकामियों, योगियों तथा सकाम कर्मियों द्वारा भी, की जाती है। भक्तगण परमेश्वर की पूजा भगवान् की शुद्ध भक्ति प्राप्त करने के लिए करते हैं। किन्तु जिनके पास मानव जीवन के मुख्य उद्देश्य ईश प्रेम को प्राप्त करने के लिए कोई कार्यक्रम नहीं होता उनके द्वारा भगवान् नहीं पूजे जाते। ईश्वर के साथ प्रेमपूर्ण सम्बन्ध से विमुख व्यक्ति कुछ हद तक अपने ही कर्मों द्वारा तिरस्कृत होते हैं।

भगवान् प्रत्येक जीव के प्रति उसी तरह समभाव रखते हैं, जिस तरह बहती हुई गंगा। गंगा-जल हर व्यक्ति की शुद्धि के निमित्त है, तो भी गंगा के तट के वृक्षों का महत्त्व भिन्न होता है। गंगा के तट पर आम्रवृक्ष जल पीता है और निम्ब वृक्ष भी उसी जल को पीता है। किन्तु दोनों वृक्षों के फल भिन्न-भिन्न होते हैं। एक में स्वर्गिक मिठास होती है और दूसरे में नारकीय तिक्तता। निम्ब की तिरस्कृत तिक्तता उसके विगत कर्म के कारण है, जिस तरह कि आम की मधुरता भी उसके अपने कर्म के कारण

है। भगवद्गीता (१६.१९) में भगवान् ने कहा है—

तामहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।

क्षिपाम्यजस्रमशुभान् आसुरीष्वेव योनिषु ॥

“जो लोग ईर्ष्यालु तथा दुर्जन हैं और नराधम हैं उन्हें मैं भवसागर में विभिन्न आसुरी योनियों में डालता रहता हूँ।” यमराज जैसे देवता तथा अन्य नियंत्रक उन अवांछित बद्धात्माओं के लिए हैं, जो ईश्वर के साम्राज्य की शान्ति भंग करने में सदैव लगे रहते हैं। चूँकि ये सारे देवता भगवान् के विश्वस्त भक्त-सेवक हैं, अतएव इनका कभी भी तिरस्कार नहीं किया जाना चाहिए।

देवा ऊचुः

नमाम ते देव पदारविन्दं

प्रपन्नतापोपशमातपत्रम् ।

यन्मूलकेता यतयोऽञ्जसोरु-

संसारदुःखं बहिरुत्क्षिपन्ति ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

देवाः ऊचुः—देवताओं ने कहा; नमाम—हम सादर नमस्कार करते हैं; ते—तुम्हें; देव—हे प्रभु; पद-अरविन्दम्—चरणकमल; प्रपन्न—शरणागत; ताप—कष्ट; उपशम—शमन करता है; आतपत्रम्—छाता; यत्-मूल-केताः—चरणकमलों की शरण; यतयः—महर्षिगण; अञ्जसा—पूर्णतया; उरु—महान्; संसार-दुःखम्—संसार के दुःख; बहिः—बाहर; उत्क्षिपन्ति—बलपूर्वक फेंक देते हैं।

देवताओं ने कहा : हे प्रभु, आपके चरणकमल शरणागतों के लिए छाते के समान हैं, जो संसार के समस्त कष्टों से उनकी रक्षा करते हैं। सारे मुनिगण उस आश्रय के अन्तर्गत समस्त भौतिक कष्टों को निकाल फेंकते हैं। अतएव हम आपके चरणकमलों को सादर नमस्कार करते हैं।

तात्पर्य : ऐसे अनेक साधु-संत हैं, जो पुनर्जन्म तथा अन्य समस्त भौतिक कष्टों पर विजय पाने के प्रयास में लगे रहते हैं। किन्तु इनमें से जो लोग भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करते हैं, वे बिना कठिनाई के ऐसे सारे कष्टों को पूरी तरह उतार फेंक सकते हैं। अन्य लोग जो विविध प्रकार के दिव्य कार्यों में लगे रहते हैं ऐसा नहीं कर सकते। उनके लिए ऐसा कर पाना बहुत कठिन है। वे भगवान् के चरणकमलों की शरण में गये बिना मुक्त होने के लिए कृत्रिम विधि का चिन्तन कर सकते हैं, किन्तु ऐसा सम्भव नहीं है। ऐसी मिथ्या मुक्ति से मनुष्य पुनः इस भौतिक जगत में आ गिरता है

चाहे वह कितनी भी कठिन तपस्या क्यों न किये हो। यह उन देवताओं का मत है, जो न केवल वैदिक ज्ञान में पटु हैं, अपितु भूत, वर्तमान तथा भविष्य के भी द्रष्टा हैं। देवताओं के मत महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि देवता ही विश्व व्यवस्था सम्बन्धी कार्यव्यापार का पद भार सँभालने के लिए प्रधिकृत होते हैं। वे भगवान् द्वारा उनके विश्वसनीय सेवकों के रूप में नियुक्त रहते हैं।

धातर्यदस्मिन्भव ईश जीवा-

स्तापत्रयेणाभिहता न शर्म ।

आत्मन्लभन्ते भगवंस्तवाङ्घ्रि

च्छायां सविद्यामत आश्रयेम ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

धातः—हे पिता; यत्—क्योंकि; अस्मिन्—इस; भवे—संसार में; ईश—हे ईश्वर; जीवाः—जीव; ताप—कष्ट; त्रयेण—तीन; अभिहताः—सदैव; न—कभी नहीं; शर्म—सुख में; आत्मन्—आत्मा; लभन्ते—प्राप्त करते हैं; भगवन्—हे भगवान्; तव—तुम्हारे; अङ्घ्रि—छायाम्—चरणों की छाया; स-विद्याम्—ज्ञान से पूर्ण; अतः—प्राप्त करते हैं; आश्रयेम—शरण।

हे पिता, हे प्रभु, हे भगवान्, इस भौतिक संसार में जीवों को कभी कोई सुख प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि वे तीन प्रकार के कष्टों से अभिभूत रहते हैं। अतएव वे आपके उन चरणकमलों की छाया की शरण ग्रहण करते हैं, जो ज्ञान से पूर्ण है और इस लिए हम भी उन्हीं की शरण लेते हैं।

तात्पर्य : भक्ति-मय सेवा की विधि न तो भावनात्मक है न लौकिक। यह सत्य का मार्ग है, जिससे जीव तीन प्रकार के—दैहिक, दैविक तथा भौतिक—दुखों से छुटकारा पाने का दिव्य सुख प्राप्त कर सकता है। भौतिक जगत द्वारा बद्ध कोई भी जीव, चाहे वह मनुष्य हो, पशु हो, देवता हो या पक्षी, उसे आध्यात्मिक (शारीरिक या मानसिक), आधिभौतिक (जीवों द्वारा प्रदत्त) तथा आधिदैविक (दैवी उत्पातों के फलस्वरूप) कष्ट भोगने पड़ते हैं। उसका सुख बद्धजीवन के कष्टों से मुक्त होने के लिए कठिन संघर्ष के अतिरिक्त कुछ भी नहीं होता। किन्तु उसकी रक्षा का एक ही उपाय है और वह है पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करना।

यह तर्क कि उचित ज्ञान प्राप्त किये बिना मनुष्य भौतिक कष्टों से मुक्त नहीं हो सकता, असंदिग्ध रूप से सत्य है। किन्तु भगवान् के चरणकमल दिव्य ज्ञान से पूर्ण होते हैं, अतएव उनके चरणकमलों को स्वीकार करने से उस आवश्यकता की पूर्ति हो जाती है। इसकी व्याख्या हम प्रथम स्कन्ध

(१.२.७) में कर चुके हैं—

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः ।

जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम् ॥

भगवान् वासुदेव की भक्ति में ज्ञान का अभाव नहीं है। वे भक्त के हृदय में से अज्ञानरूपी अंधकार को दूर करने का भार अपने ऊपर ले लेते हैं। इसकी पुष्टि उन्होंने *भगवद्गीता* (१०.१०) में की है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥

अनुभवजन्य दार्शनिक चिन्तन मनुष्य को भौतिक संसार के तीन कष्टों से छुटकारा नहीं दिला सकता। भगवान् की भक्ति में समर्पित हुए लगे बिना ज्ञान के लिए प्रयत्न करना मूल्यवान समय का अपव्यय है।

मार्गान्ति यत्ते मुखपद्मनीडै-

श्छन्दःसुपर्णैरृषयो विविक्ते ।

यस्याघमर्षोदसरिद्वारायाः

पदं पदं तीर्थपदः प्रपन्नाः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

मार्गान्ति—खोज करते हैं; यत्—जिस तरह; ते—तुम्हारा; मुख-पद्म—कमल जैसा मुख; नीडैः—ऐसे कमलपुष्प की शरण में आये हुआं के द्वारा; छन्दः—वैदिक-स्तोत्र; सुपर्णैः—पंखों से; ऋषयः—ऋषिगण; विविक्ते—निर्मल मन में; यस्य—जिसका; अघ-मर्ष-उद—जो पाप के सारे फलों से मुक्ति दिलाता है; सरित्—नदियाँ; वरायाः—सर्वोत्तम; पदम् पदम्—प्रत्येक कदम पर; तीर्थ-पदः—जिसके चरणकमल तीर्थस्थान के तुल्य हैं; प्रपन्नाः—शरण में आये हुए।

भगवान् के चरणकमल स्वयं ही समस्त तीर्थस्थलों के आश्रय हैं। निर्मल मनवाले महर्षिगण वेदों रूपी पंखों के सहारे उड़कर सदैव आपके कमल सदृश मुख रूपी घोंसले की खोज करते हैं। उनमें से कुछ सर्वश्रेष्ठ नदी (गंगा) में शरण लेकर पद-पद पर आपके चरणकमलों की शरण ग्रहण करते हैं, जो सारे पापफलों से मनुष्य का उद्धार कर सकते हैं।

तात्पर्य : परमहंसों की तुलना उन राजहंसों से की जाती है, जो कमल की पंखुडियों में अपने घोंसले बनाते हैं। भगवान् के दिव्य शारीरिक अंगों की उपमा सदैव कमल के फूल से दी जाती है, क्योंकि भौतिक जगत में कमल का फूल सौन्दर्य की पराकाष्ठा है। संसार की सबसे सुन्दर वस्तु वेद या *भगवद्गीता* है, क्योंकि उनमें स्वयं भगवान् ज्ञान प्रदान करते हैं। परमहंस अपना घोंसला भगवान् के

कमल सदृश मुख पर बनाता है और वह सदा उनके चरणकमलों की शरण खोजता है जिन तक वैदिक ज्ञान के पंखों द्वारा पहुँचा जाता है। चूँकि भगवान् समस्त उद्भासों के आदि स्रोत हैं, अतः वैदिक ज्ञान से प्रकाशित बुद्धिमान जन भगवान् की शरण उसी तरह खोजते हैं जिस तरह अपने घोंसले से दूर गये पक्षी विश्राम करने के लिए पुनः अपना घोंसला खोज लेते हैं। समस्त वैदिक ज्ञान भगवान् को समझने के लिए है जैसाकि भगवान् ने *भगवद्गीता* (१५.१५) में कहा है *वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः*। बुद्धिमान जन, जो हंस सदृश हैं, सभी तरह से भगवान् की शरण ग्रहण करते हैं और वे विभिन्न दर्शनों के विषय में व्यर्थ का चिन्तन करते हुए मानसिक धरातल पर नहीं मँडराते।

भगवान् इतने दयालु हैं कि उन्होंने ब्रह्माण्ड भर में गंगा नदी को विस्तारित कर दिया है, जिससे हर व्यक्ति उस पवित्र नदी में स्नान करके पग-पग पर होने वाले पापों के फलों से छुटकारा पा सके। संसार में ऐसी अनेक नदियाँ हैं जिनमें स्नान करने से ही ईश-चेतना का भाव जागृत हो उठता है और ऐसी नदियों में गंगा नदी प्रमुख है। भारत में पाँच पवित्र नदियाँ हैं, किन्तु गंगा सर्वाधिक पवित्र है। गंगा नदी तथा *भगवद्गीता* मानव हेतु दिव्य सुख की प्रमुख स्रोत है और बुद्धिमान लोग भगवद्धाम वापस जाने के लिए इनकी शरण ग्रहण कर सकते हैं, यहाँ तक कि श्रीपाद शंकराचार्य ने भी यह संस्तुति की है कि *भगवद्गीता* का थोड़ा सा ज्ञान तथा गंगाजल का थोड़ा सा जलपान मनुष्य को यमराज के दण्ड से बचा सकता है।

यच्छ्रद्धया श्रुतवत्या च भक्त्या

सम्मृज्यमाने हृदयेऽवधाय ।

ज्ञानेन वैराग्यबलेन धीरा

व्रजेम तत्तेऽङ्घ्रिसरोजपीठम् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

यत्—वह जो; श्रद्धया—उत्सुकता से; श्रुतवत्या—केवल सुनने से; च—भी; भक्त्या—भक्ति से; सम्मृज्यमाने—धुलकर; हृदये—हृदय में; अवधाय—ध्यान; ज्ञानेन—ज्ञान से; वैराग्य—विरक्ति के; बलेन—बल से; धीराः—शान्त; व्रजेम—जाना चाहिए; तत्—उस; ते—तुम्हारे; अङ्घ्रि—पाँव; सरोज-पीठम्—कमल पुण्यालय।

आपके चरणकमलों के विषय में केवल उत्सुकता तथा भक्ति पूर्वक श्रवण करने से तथा उनके विषय में हृदय में ध्यान करने से मनुष्य तुरन्त ही ज्ञान से प्रकाशित और वैराग्य के बल पर शान्त हो जाता है। अतएव हमें आपके चरणकमल रूपी पुण्यालय की शरण ग्रहण करनी

चाहिए।

तात्पर्य : उत्सुकता तथा भक्ति पूर्वक भगवान् के चरणकमलों का ध्यान करने के चमत्कार इतने महान् होते हैं कि कोई अन्य विधि इनकी बराबरी नहीं कर सकती। भौतिकतावादी जनों के मन इतने व्यग्र रहते हैं कि उनके लिए निजी नियमित प्रयासों द्वारा परम सत्य की खोज कर सकना प्रायः असम्भव होता है। किन्तु ऐसे भौतिकतावादी जन भी, दिव्य नाम, यश, गुण इत्यादि के विषय में श्रवण के प्रति थोड़ी सी भी उत्सुकता से, ज्ञान तथा वैराग्य प्राप्त करने की अन्य सभी विधियों को मात कर सकते हैं। बद्धजीव देहात्मबुद्धि के प्रति लिप्त रहता है, अतएव वह अज्ञान में पड़ा रहता है। आत्म-ज्ञान का संवर्धन भौतिक अनुराग से वैराग्य उत्पन्न करा सकता है और ऐसे वैराग्य के बिना ज्ञान का कोई अर्थ नहीं होता। भौतिक भोग के लिए सबसे भयावह आसक्ति है यौन जीवन। यौन जीवन के प्रति आसक्त व्यक्ति को ज्ञान से विहीन समझना चाहिए। ज्ञान के पश्चात् वैराग्य होना ही चाहिए। आत्म-साक्षात्कार की यही विधि है। आत्म-साक्षात्कार के लिए ज्ञान तथा वैराग्य अनिवार्य हैं। और यदि कोई व्यक्ति भगवान् के चरणकमलों की भक्ति करता है, तो ये दोनों अनिवार्य तत्त्व तुरन्त प्रकट होते हैं। इस सन्दर्भ में धीर शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जो व्यक्ति व्यग्रता का कारण उपस्थित होने पर भी विक्षुब्ध नहीं होता वह धीर कहलाता है। श्री यामुनाचार्य कहते हैं, “क्योंकि मेरा हृदय भगवान् कृष्ण की भक्ति से अभिभूत हो चुका है मैं यौन जीवन के विषय में सोच भी नहीं सकता और यदि यौन का विचार मेरे मन में आता भी है, तो मुझे तुरन्त घृणा होने लगती है।” भगवद्भक्त भगवान् के चरणकमलों का उत्सुकतापूर्वक ध्यान करने मात्र से उच्चस्थ धीर बन जाता है।

भक्ति में प्रामाणिक गुरु द्वारा दीक्षा का दिया जाना तथा भगवान् के विषय में सुनने के उसके उपदेशों का पालन करना निहित होता है। ऐसे प्रामाणिक गुरु को उससे नियमित रूप से भगवान् के विषय में सुनने के बाद स्वीकार किया जाता है। ज्ञान तथा वैराग्य में उन्नति को भक्तगण वास्तविक अनुभव के रूप में देखते हैं। श्री चैतन्य महाप्रभु ने प्रामाणिक भक्त से सुनने की इस विधि की जोरदार संस्तुति की और इस विधि का पालन करते हुए मनुष्य अन्य सारी विधियों पर विजय प्राप्त करते हुए सर्वोच्च परिणाम तक पहुँच सकता है।

विश्वस्य जन्मस्थितिसंयमार्थं

कृतावतारस्य पदाम्बुजं ते ।

व्रजेम सर्वे शरणं यदीश

स्मृतं प्रयच्छत्यभयं स्वपुंसाम् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

विश्वस्य—विराट ब्रह्माण्ड के; जन्म—सृजन; स्थिति—पालन; संयम-अर्थ—प्रलय के लिए भी; कृत—धारण किया हुआ या स्वीकृत; अवतारस्य—अवतार का; पद-अम्बुजम्—चरणकमल; ते—आपके; व्रजेम—शरण में जाते हैं; सर्वे—हम सभी; शरणम्—शरण; यत्—जो; ईश—हे भगवान्; स्मृतम्—स्मृति; प्रयच्छति—प्रदान करके; अभयम्—साहस; स्व-पुंसाम्—भक्तों का।

हे प्रभु, आप विराट जगत के सृजन, पालन तथा संहार के लिए अवतरित होते हैं इसलिए हम सभी आपके चरणकमलों की शरण ग्रहण करते हैं, क्योंकि ये चरण आपके भक्तों को सदैव स्मृति तथा साहस प्रदान करने वाले हैं।

तात्पर्य : विराट जगत की सृष्टि, पालन तथा प्रलय के लिए ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर (शिव) तीन अवतार हैं। ये भौतिक प्रकृति के तीन गुणों के नियंत्रक अथवा स्वामी हैं, जो दृश्य जगत के कारण हैं। विष्णु सतोगुण के स्वामी हैं, ब्रह्मा रजोगुण के तथा महेश्वर तमोगुण के। प्रकृति के गुणों के अनुसार भक्तों के विभिन्न प्रकार हैं। सतोगुणी लोग भगवान् विष्णु की पूजा करते हैं, रजोगुणी लोग ब्रह्मा की पूजा करते हैं तथा तमोगुणी लोग शिव की पूजा करते हैं। ये तीनों देव भगवान् कृष्ण के अवतार हैं, क्योंकि कृष्ण आदि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं। देवतागण सीधे भगवान् के चरणकमलों का निर्देश ग्रहण करते हैं, विभिन्न अवतारों का नहीं। किन्तु भौतिक जगत में विष्णु अवतार की पूजा देवताओं द्वारा सीधे की जाती है। विभिन्न शास्त्रों से पता चलता है कि देवतागण विष्णु के पास क्षीर सागर में जाते हैं और जब कभी विश्व के काम-काज के प्रशासन में कोई कठिनाई आती है, तो वे अपनी समस्याओं के लिए निवेदन करते हैं। यद्यपि ब्रह्मा तथा शिव भगवान् के अवतार हैं, किन्तु वे विष्णु की पूजा करते हैं, और इस प्रकार उनकी गणना भी देवताओं में होती है, भगवान् के रूप में नहीं। विष्णु की पूजा करने वाले व्यक्ति देवता कहलाते हैं और जो ऐसा नहीं करते वे असुर कहलाते हैं। विष्णु सदैव देवताओं का पक्ष लेते हैं, किन्तु ब्रह्मा तथा शिव कभी-कभी असुरों का पक्ष भी लेते हैं। ऐसा नहीं है कि उनमें रुचि लेने से वे उनके समान बन जाते हैं, अपितु कभी-कभी असुरों पर नियंत्रण प्राप्त करने के लिए वे ऐसा कुछ करते हैं।

यत्सानुबन्धेऽसति देहगेहे

ममाहमित्यूढदुराग्रहाणाम् ।

पुंसां सुदूरं वसतोऽपि पुर्या

भजेम तत्ते भगवन्पदाब्जम् ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

यत्—चूँकि; स-अनुबन्धे—पाश में बँधने से; असति—इस तरह होकर; देह—स्थूल शरीर; गेहे—घर में; मम—मेरा; अहम्—मैं; इति—इस प्रकार; ऊढ—महान्, गम्भीर; दुराग्रहाणाम्—अवांछित उत्सुकता; पुंसाम्—मनुष्यों की; सु-दूरम्—काफी दूर; वसतः—रहते हुए; अपि—यद्यपि; पुर्याम्—शरीर में; भजेम—पूजा करें; तत्—इसलिए; ते—तुम्हारे; भगवन्—हे भगवान्; पद-अब्जम्—चरणकमल ।

हे प्रभु, जो लोग नश्वर शरीर तथा बन्धु-बाँधवों के प्रति अवांछित उत्सुकता के द्वारा पाशबद्ध हैं और जो लोग “मेरा” तथा “मैं” के विचारों से बँधे हुए हैं, वे आपके चरणकमलों का दर्शन नहीं कर पाते यद्यपि आपके चरणकमल उनके अपने ही शरीरों में स्थित होते हैं। किन्तु हम आपके चरणकमलों की शरण ग्रहण करें।

तात्पर्य : जीवन का सम्पूर्ण वैदिक दर्शन यही है कि स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों के भौतिक बन्धन से छुटकारा पाया जाय जिसके कारण मनुष्य कष्टमय गर्हित जीवन बिताता रहता है। यह भौतिक शरीर तब तक चलता जाता है जब तक मनुष्य भौतिक प्रकृति पर प्रभुत्व जताने की मिथ्या धारणा से विरत नहीं हो जाता। भौतिक प्रकृति पर प्रभुत्व जताने की यह प्रेरणा “मेरा” तथा “मैं” का बोध है। “मैं सारे विश्व का सर्वेसर्वा हूँ। मेरे पास बहुत सी वस्तुएँ हैं और मैं अधिकाधिक वस्तुओं का स्वामी बनूँगा। सम्पत्ति तथा शिक्षा के मामले में मुझसे बढ़कर कौन हो सकता है? मैं स्वामी हूँ और मैं ईश्वर हूँ। मेरे अतिरिक्त और है ही कौन?” ये सारे विचार अहं मम दर्शन अर्थात् “मैं ही सब कुछ हूँ” को प्रतिबिम्बित करते हैं। ऐसी जीवनधारणा से संचालित व्यक्ति भव-बन्धन से कभी मुक्ति नहीं पा सकते। किन्तु यदि कोई केवल कृष्णकथा सुनने के लिए राजी हो सके तो संसार के कष्टों से निरन्तर तिरस्कृत व्यक्ति भी बन्धन से छुटकारा पा सकता है। इस कलियुग में कृष्णकथा सुनने की प्रक्रिया अवांछित पारिवारिक स्नेह से छुटकारा पाने और इस तरह जीवन में स्थायी स्वतंत्रता प्राप्त करने का सबसे प्रभावशाली साधन है। कलियुग पापपूर्ण कर्मफलों से ओत-प्रोत है और लोग इस युग के गुणों में अधिकाधिक लिप्त हैं, किन्तु कृष्णकथा के श्रवण तथा कीर्तन मात्र से मनुष्य का भगवद्धाम वापस जाना सुनिश्चित है। अतएव मनुष्यों को सभी तरह से एकमात्र कृष्णकथा सुनने के लिए प्रशिक्षित किया जाना चाहिए जिससे उन्हें सारे कष्टों से छुटकारा मिल सके।

तान्वै ह्यसद्वृत्तिभिरक्षिभिर्यै

पराहतान्तर्मनसः परेश ।

अथो न पश्यन्त्युरुगाय नूनं

ये ते पदन्यासविलासलक्ष्याः ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

तान्—भगवान् के चरणकमल; वै—निश्चय ही; हि—क्योंकि; असत्—भौतिकतावादी; वृत्तिभिः—बहिरंगा शक्ति से प्रभावित होने वालों के द्वारा; अक्षिभिः—इन्द्रियों द्वारा; ये—जो; पराहत—दूरी पर खोये हुए; अन्तः-मनसः—आन्तरिक मन को; परेश—हे परम; अथो—इसलिए; न—कभी नहीं; पश्यन्ति—देख सकते हैं; उरुगाय—हे महान्; नूनम्—लेकिन; ये—जो; ते—तुम्हारे; पदन्यास—कार्यकलाप; विलास—दिव्य भोग; लक्ष्याः—देखने वाले।

हे महान् परमेश्वर, वे अपराधी व्यक्ति, जिनकी अन्तःदृष्टि बाह्य भौतिकतावादी कार्यकलापों से अत्यधिक प्रभावित हो चुकी होती है वे आपके चरणकमलों का दर्शन नहीं कर सकते, किन्तु आपके शुद्ध भक्त दर्शन कर पाते हैं, क्योंकि उनका एकमात्र उद्देश्य आपके कार्यकलापों का दिव्य भाव से आस्वादन करना है।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* (१८.६१) में कहा गया है, भगवान् हर एक के हृदय में स्थित हैं। यह स्वाभाविक है कि मनुष्य कम से कम अपने भीतर भगवान् का दर्शन कर सके। किन्तु जिन लोगों की अन्तःदृष्टि बाह्य कार्यकलापों से आच्छादित हो चुकी होती है उनके लिए यह सम्भव नहीं है। शुद्ध आत्मा, जिसका लक्षण चेतना है, एक सामान्य व्यक्ति द्वारा भी आसानी से अनुभव की जा सकती है, क्योंकि चेतना सारे शरीर में फैली हुई है। जैसाकि *भगवद्गीता* में संस्तुति की गई है, योग पद्धति मानसिक कार्यकलापों को भीतर में ही केन्द्रित करना है और इस तरह अपने अन्दर भगवान् के चरणकमलों का दर्शन करना है। किन्तु ऐसे अनेक तथाकथित योगी हैं जिनको भगवान् से कोई वास्ता नहीं रहता, अपितु वे केवल चेतना से ही मतलब रखते हैं, जिसे वे अन्तिम साक्षात्कार मान लेते हैं। चेतना का ऐसा साक्षात्कार *भगवद्गीता* द्वारा चुटकी बजाते सीखाया जा सकता है, जबकि तथाकथित योगियों को भगवान् के चरणकमलों पर अपने अपराध के कारण इसे पाने में वर्षों लग जाते हैं। सबसे बड़ा अपराध तो व्यष्टि आत्माओं से भगवान् के पृथक् अस्तित्व को नकारना है या भगवान् तथा व्यष्टि आत्मा को एक तथा अभिन्न मानना है। निर्विशेषवादी प्रतिबिम्ब के सिद्धान्त की गलत व्याख्या करते हैं और त्रुटिवश वे व्यष्टि चेतना को परम चेतना मान लेते हैं।

परम के प्रतिबिम्बवाद को कोई भी निष्ठावान सामान्यजन बिना किसी कठिनाई के स्पष्टतः समझ

सकता है। जब जल में आकाश का प्रतिबिम्ब पड़ता है, तो जल के भीतर आकाश तथा तारे दोनों दिखते हैं, किन्तु आकाश तथा तारों को समान स्तर पर नहीं माना जाता। तारे तो आकाश के अंश हैं, अतएव उन्हें पूर्ण के समान नहीं माना जा सकता। आकाश पूर्ण है और तारे अंश हैं। वे एक हो ही नहीं सकते। जो अध्यात्मवादी (योगी) परम चेतना को व्यष्टि चेतना से पृथक् नहीं मानते वे उतने ही अपराधी हैं जितने कि भगवान् के अस्तित्व तक को ही नकारने वाले भौतिकतावादी।

वस्तुतः ऐसे अपराधीजन न तो अपने अन्तःकरण में भगवान् के चरणकमलों को देख सकते हैं न ही वे भगवद्भक्तों को देख सकते हैं। भगवद्भक्त इतने दयालु होते हैं कि वे लोगों को ईशचेतना से अलोकित करने के लिए सभी स्थानों में घूमते रहते हैं, किन्तु अपराधीजन भगवद्भक्तों का स्वागत करने का अवसर खो बैठते हैं, यद्यपि अपराध-रहित सामान्य-जन भक्तों की उपस्थिति से तुरन्त ही प्रभावित हो जाते हैं। इस सन्दर्भ में एक शिकारी तथा देवर्षि नारद की एक रोचक कहानी है। एक जंगल में एक शिकारी रहता था, जो यद्यपि महान् पापी था, किन्तु वह जान-बूझकर अपराध नहीं किया करता था। वह नारद की उपस्थिति से तत्काल प्रभावित हुआ और अपना घर-बार छोड़कर भक्तिमार्ग स्वीकार करने को राजी हो गया। किन्तु नलकूवर तथा मणिग्रीव अपराधियों को देवताओं के बीच में रहते हुए भी अगले जन्म में वृक्ष बनने का दण्ड भोगना पड़ा, यद्यपि एक भक्त की कृपा से बाद में भगवान् ने उनका उद्धार कर दिया। अपराधियों को तब तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है जब तक उन्हें भक्तों की कृपा प्राप्त न हो ले। तब वे अपने अन्तःकरण में भगवान् के चरणकमलों का दर्शन करने के पात्र बन जाते हैं। किन्तु अपने अपराधों तथा अपनी नितान्त भौतिकवादिकता के कारण वे भगवद्भक्तों तक का दर्शन नहीं कर पाते। बाह्य कार्यों में व्यस्त रहने से वे अपनी अन्तःदृष्टि का हनन कर डालते हैं। फिर भी भगवद्भक्त उन मूर्खों के अपराधों पर ध्यान नहीं देते जो अनेक स्थूल तथा सूक्ष्म शारीरिक प्रयासों में लगे रहने के कारण होते रहते हैं। भगवद्भक्त ऐसे समस्त अपराधियों को बिना हिचक के भक्ति का आशीर्वाद देते रहते हैं। भक्तों का यही स्वभाव है।

पानेन ते देव कथासुधायाः

प्रवृद्धभक्त्या विशदाशया ये ।

वैराग्यसारं प्रतिलभ्य बोधं

यथाञ्जसान्वीयुरकुण्ठधिष्यम् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

पानेन—पीने से; ते—आपके; देव—हे प्रभु; कथा—कथाएँ; सुधायाः—अमृत की; प्रबुद्ध—अत्यन्त प्रबुद्ध; भक्त्या—भक्ति द्वारा; विशद-आशयाः—अत्यधिक गम्भीर विचार से युक्त; ये—जो; वैराग्य-सारम्—वैराग्य का सारा तात्पर्य; प्रतिलभ्य—प्राप्त करके; बोधम्—बुद्धि; यथा—जिस तरह; अञ्जसा—तुरन्त; अन्वीयुः—प्राप्त करते हैं; अकुण्ठ-धिष्यम्—आध्यात्मिक आकाश में वैकुण्ठलोक।

हे प्रभु, जो लोग अपनी गम्भीर मनोवृत्ति के कारण प्रबुद्ध भक्ति-मय सेवा की अवस्था प्राप्त करते हैं, वे वैराग्य तथा ज्ञान के संपूर्ण अर्थ को समझ लेते हैं और आपकी कथाओं के अमृत को पीकर ही आध्यात्मिक आकाश में वैकुण्ठलोक को प्राप्त करते हैं।

तात्पर्य : निर्विशेषवादी मानसिक चिन्तकों तथा भगवान् के शुद्ध भक्तों में जो अन्तर होता है, वह यही है कि निर्विशेषवादी प्रत्येक अवस्था पर परब्रह्म के कष्टसाध्य ज्ञान से होकर गुजरते हैं जबकि भक्तगण अपने प्रयास के आरम्भ से ही समस्त आनन्द के धाम में प्रवेश करते हैं। भक्त को भक्ति-मय कार्यकलापों के विषय में केवल श्रवण करना होता है, जो कि सामान्य जीवन के किसी भी कार्य की तरह सरल होता है। वह बहुत ही सरल ढंग से कार्य करता है, जबकि मानसिक चिन्तक को वाग्जाल से होकर गुजरना पड़ता है, जिसमें कुछ तथ्य रहते हैं और कुछ तो निर्विशेष अवस्था बनाये रखने के लिए दिखावा मात्र होते हैं। पूर्णज्ञान प्राप्त करने के लिए घोर प्रयासों के बावजूद, निर्विशेषवादी भगवान् की ब्रह्मज्योति के निर्विशेष तादात्म्य में लीन हो पाता है। इसे तो भगवान् के शत्रु भी उनके द्वारा मारे जाने पर सहज ही प्राप्त कर लेते हैं। किन्तु भक्तगण ज्ञान तथा वैराग्य की सर्वोच्च अवस्था प्राप्त करते हैं और वैकुण्ठ लोकों को जाते हैं, जो आध्यात्मिक आकाश के लोक हैं। निर्विशेषवादी को तो केवल आकाश प्राप्त होता है; उसे कोई वास्तविक दिव्य आनन्द नहीं प्राप्त होता जबकि भक्त उन लोकों को प्राप्त होता है जहाँ असली आध्यात्मिक जीवन होता है। गम्भीर मनोवृत्ति से युक्त भक्त सारी उपलब्धियों को धूल की तरह झाड़ देता है और एकमात्र भक्ति को स्वीकार करता है, जो दिव्य परिणति है।

तथापरे चात्मसमाधियोग-

बलेन जित्वा प्रकृतिं बलिष्ठाम् ।

त्वामेव धीराः पुरुषं विशन्ति

तेषां श्रमः स्यान्न तु सेवया ते ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

तथा—जहाँ तक; अपरे—अन्य; च—भी; आत्म-समाधि—दिव्य आत्म-साक्षात्कार; योग—साधन; बलेन—के बल पर; जित्वा—जीतकर; प्रकृतिम्—अर्जित स्वभाव या गुण; बलिष्ठाम्—अत्यन्त बलवान्; त्वाम्—तुमको; एव—एकमात्र; धीराः—शान्त; पुरुषम्—व्यक्ति को; विशन्ति—प्रवेश करते हैं; तेषाम्—उनके लिए; श्रमः—अत्यधिक परिश्रम; स्यात्—करना होता है; न—कभी नहीं; तु—लेकिन; सेवया—सेवा द्वारा; ते—तुम्हारी।

अन्य लोग भी जो कि दिव्य आत्म-साक्षात्कार द्वारा शान्त हो जाते हैं तथा जिन्होंने प्रबल शक्ति एवं ज्ञान के द्वारा प्रकृति के गुणों पर विजय पा ली है, आप में प्रवेश करते हैं, किन्तु उन्हें काफी कष्ट उठाना पड़ता है, जबकि भक्त केवल भक्ति-मय सेवा सम्पन्न करता है और उसे ऐसा कोई कष्ट नहीं होता।

तात्पर्य : प्रेम के श्रम तथा उससे मिलने वाले लाभों की दृष्टि से भक्तगण सदैव उन लोगों से आगे रहते हैं, जो ज्ञानियों या निर्विशेषवादियों तथा योगियों की संगति के पीछे बावले रहते हैं। अपरे (अन्यों) शब्द इस सन्दर्भ में अत्यन्त सार्थक है। यह शब्द उन ज्ञानियों तथा योगियों का द्योतक है जिनकी एकमात्र आशा निर्विशेष ब्रह्मज्योति में तदाकार होने की रहती है। यद्यपि उनका गन्तव्य भक्तों के गन्तव्य की तुलना में अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं होता, किन्तु अभक्तों को भक्तों की अपेक्षा अत्यधिक श्रम करना पड़ता है। कोई यह सुझाव रख सकता है कि भक्ति-मय सेवा सम्पन्न करने में भक्तों को भी पर्याप्त श्रम करना होता है। किन्तु इस श्रम की क्षति-पूर्ति दिव्य आनन्द की वृद्धि से हो जाती है। भक्तों को भगवान् की सेवा में निरन्तर लगे रहने से व्यस्त न रहने की अपेक्षा अधिक आनन्द मिलता है। पुरुष तथा स्त्री के पारिवारिक संयोग में दोनों ही के लिए अधिक श्रम तथा उत्तरदायित्व रहता है; फिर भी जब वे अकेले होते हैं, तो संयुक्त कार्यकलापों के अभाव में उन्हें अधिक झंझट प्रतीत होता है।

निर्विशेषवादियों का मिलन तथा भक्तों का मिलन समान स्तर का नहीं होता। निर्विशेषवादी सायुज्य-मुक्ति प्राप्त करके अपनी वैयक्तिकता पूरी तरह समाप्त करने का प्रयास करते हैं जबकि भक्तगण परम पुरुष भगवान् के साथ अपनी भावनाओं का आदान-प्रदान बनाये रखने के लिए अपनी वैयक्तिकता बनाये रखते हैं। इस तरह भावों का आदान-प्रदान दिव्य वैकुण्ठलोकों में होता है, अतएव जिस मुक्ति की तलाश निर्विशेषवादी करते हैं वह भक्ति में पहले ही प्राप्त हो चुकी होती है। भक्तगण अपनी वैयक्तिकता बनाये रख कर दिव्य आनन्द प्राप्त करते हुए स्वयमेव मुक्ति पाते हैं। जैसाकि पिछले श्लोक में बताया जा चुका है, भक्तों का गन्तव्य वैकुण्ठ या अकुण्ठ-धिष्य होता है—वह स्थान जहाँ

चिन्ताएँ समूल नष्ट हो जाती हैं। किसी को भक्तों के गन्तव्य तथा निर्विशेषवादियों के गन्तव्य को एक समान मानने की भूल नहीं करनी चाहिए। दोनों के गन्तव्य स्पष्टतः पृथक्-पृथक् है और भक्त द्वारा प्राप्त होने वाला दिव्य आनन्द भी चिन्मात्रा या केवल आध्यात्मिक भावनाओं से भिन्न होता है।

तत्ते वयं लोकसिसृक्षयाद्य
त्वयानुसृष्टास्त्रिभिरात्मभिः स्म ।
सर्वे वियुक्ताः स्वविहारतन्त्रं
न शक्नुमस्तत्प्रतिहर्तवे ते ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

तत्—इसलिए; ते—तुम्हारा; वयम्—हम सभी; लोक—संसार; सिसृक्षया—सृष्टि के लिए; आद्य—हे आदि पुरुष; त्वया—तुम्हारे द्वारा; अनुसृष्टाः—एक के बाद एक उत्पन्न किया जाकर; त्रिभिः—तीन गुणों द्वारा; आत्मभिः—अपने आपसे; स्म—भूतकाल में; सर्वे—सभी; वियुक्ताः—पृथक् किये हुए; स्व-विहार-तन्त्रम्—अपने आनन्द के लिए कार्यों का जाल; न—नहीं; शक्नुमः—कर सके; तत्—वह; प्रतिहर्तवे—प्रदान करने के लिए; ते—तुम्हें।

हे आदि पुरुष, इसलिए हम एकमात्र आपके हैं। यद्यपि हम आपके द्वारा उत्पन्न प्राणी हैं, किन्तु हम प्रकृति के तीन गुणों के प्रभाव के अन्तर्गत एक के बाद एक जन्म लेते हैं, इसीलिए हम अपने कर्म में पृथक्-पृथक् होते हैं। अतएव सृष्टि के बाद हम आपके दिव्य आनन्द के हेतु सम्मिलित रूप में कार्य नहीं कर सके।

तात्पर्य : यह विराट सृष्टि भगवान् की बहिरंगा शक्ति के तीन गुणों के प्रभाव के अन्तर्गत कार्यशील है। विभिन्न प्राणी भी उसी प्रभाव के अधीन हैं, अतएव वे भगवान् को तुष्ट करने के लिए एकजुट होकर कर्म नहीं कर सकते। कार्यों की इस विविधता के कारण भौतिक जगत में कोई ऐक्य या सामंजस्य नहीं हो सकता। इसलिए सर्वोत्तम नीति यही है कि परमात्मा के लिए कर्म किया जाय। इससे वांछित ऐक्य स्थापित हो सकेगा।

यावद्बलिं तेऽज हराम काले
यथा वयं चान्नमदाम यत्र ।
यथोभयेषां त इमे हि लोका
बलिं हरन्तोऽन्नमदन्त्यनूहाः ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

यावत्—जैसा सम्भव हो; बलिम्—भेंट; ते—तुम्हारी; अज—हे अजन्मा; हराम—अर्पित करेंगे; काले—उचित समय पर; यथा—जिस तरह; वयम्—हम; च—भी; अन्नम्—अन्न, अनाज; अदाम—खाएँगे; यत्र—जहाँ; यथा—जिस तरह;

उभयेषाम्—तुम्हारे तथा अपने दोनों के लिए; ते—सारे; इमे—ये; हि—निश्चय ही; लोकाः—जीव; बलिम्—भेंट; हरन्तः—अर्पित करते हुए; अन्नम्—अन्न; अदन्ति—खाते हैं; अनूहाः—बिना किसी प्रकार के उत्पात के।

हे अजन्मा, आप हमें वे मार्ग तथा साधन बतायें जिनके द्वारा हम आपको समस्त भोग्य अन्न तथा वस्तुएँ अर्पित कर सकें जिससे हम तथा इस जगत के अन्य समस्त जीव बिना किसी उत्पात के अपना पालन-पोषण कर सकें तथा आपके लिए और अपने लिए आवश्यक वस्तुओं का संग्रह कर सकें।

तात्पर्य : विकसित चेतना मनुष्य जीवन से प्रारम्भ होती है, जो उच्चतर लोकों में निवास करने वाले देवताओं में और भी बढ़ जाती है। यह पृथ्वी ब्रह्माण्ड के लगभग बीचोंबीच स्थित है और मनुष्य जीवन देवताओं तथा असुरों के जीवन के बीच का माध्यम है। पृथ्वी के ऊपर के लोक विशेष रूप से उच्चतर बौद्धिकों अर्थात् देवताओं के निमित्त हैं। वे देवता इसलिए कहलाते हैं, क्योंकि अपने जीवन-स्तर में संस्कृति, भोग, विलास, सौन्दर्य, शिक्षा तथा आयु के दृष्टिकोण से अत्यधिक बढ़े-चढ़े होते हुए भी, वे पूर्णतया ईशभावनाभावित होते हैं। ऐसे देवता सदैव भगवान् की सेवा करने के लिए तत्पर रहते हैं, क्योंकि वे भलीभाँति इस तथ्य को जानते हैं कि हर जीव स्वाभाविक तौर पर भगवान् का नित्य अधीनस्थ सेवक है। वे यह भी जानते हैं कि एकमात्र भगवान् ही सारे जीवों की जीवन-आवश्यकताएँ पूरी करके उनका पालन करते हैं। इस सत्य की पुष्टि इस वैदिक सूत्र से होती है—*एको बहूनां यो विदधाति कामान्, ता एनमब्रुवन्नायतनं नः प्रजानीहि यस्मिन् प्रतिष्ठिता अन्नमदामे* इत्यादि। भगवद्गीता में भी भगवान् को भूत-भृत अर्थात् सारे जीवों का पालन करने वाला कहा गया है।

यह आधुनिक सिद्धान्त है कि भुखमरी का कारण जनसंख्या में वृद्धि है, जो देवताओं या भगवद्भक्तों को स्वीकार्य नहीं है। भक्त या देवतागण इस बात से पूर्णतया अवगत हैं कि भगवान् कितने भी जीवों का पालन कर सकते हैं बशर्ते कि वे इसका ध्यान रखें कि किस तरह भोजन किया जाय। यदि वे सामान्य पशुओं की तरह भोजन करना चाहते हैं जिनमें ईश-चेतना नहीं होती तो उन्हें जंगल में रहनेवाले पशुओं की तरह भुखमरी, दरिद्रता तथा अभाव में जीवन बिताना होगा। जंगल के पशुओं का भी पालन भगवान् उनकी रुचियों का भोजन प्रदान करके करते हैं, किन्तु वे ईश-चेतना में बढ़े-चढ़े नहीं होते। इसी तरह भगवान् की कृपा से मनुष्यों को अन्न, शाक, फल तथा दूध उपलब्ध है, अतः मनुष्य का यह धर्म है कि वह भगवत्कृपा को स्वीकार करे। कृतज्ञता के रूप में भोज्य वस्तुओं

की पूर्ति के लिए उन्हें भगवान् के प्रति आभारी होना चाहिए। उन्हें चाहिए कि यज्ञ में सर्वप्रथम वे भगवान् को भोजन अर्पित करके जो उच्छिष्ट बचे, उसे ही खाएँ।

भगवद्गीता (३.१३) में इसकी पुष्टि की गई है कि जो व्यक्ति यज्ञ सम्पन्न करने के बाद भोजन ग्रहण करता है, वह शरीर तथा आत्मा के समुचित पालन-पोषण हेतु असली भोजन करता है। किन्तु जो व्यक्ति अपने लिए भोजन बनाता है और कोई यज्ञ नहीं करता, वह भोजन के रूप में पाप के ग्रास ही खाता है। ऐसा पापमय भोजन किसी को सुखी या अभाव से मुक्त नहीं बना सकता। अकाल या दुर्भिक्ष जनसंख्या वृद्धि के फलस्वरूप नहीं होता, जैसाकि अल्पज्ञ अर्थशास्त्री सोचते हैं। जब मानव समाज जीवों के पालन हेतु भगवान् द्वारा दिए गए उपहारों के प्रति कृतज्ञ रहता है तब समाज में किसी तरह का अभाव नहीं रह पाता। किन्तु जब लोग भगवान् के ऐसे उपहारों का आन्तरिक मूल्य नहीं समझते तो उन्हें निश्चय ही अभाव रहता है। जो व्यक्ति ईशभावनाभावित नहीं हैं, भले ही वह अपने विगत पुण्यकर्मों के फलस्वरूप सम्प्रति ऐश्वर्यमय जीवन बिता ले, किन्तु यदि वह ईश्वर के साथ अपने सम्बन्ध को भुला देता है, तो उसे शक्तिशाली भौतिक प्रकृति के नियमों द्वारा, निश्चय ही, भुखमरी का सामना करना पड़ेगा। ईशभावनाभावित हुए बिना अथवा भक्तिमय जीवन के बिना मनुष्य शक्तिशाली भौतिक प्रकृति की दृष्टि से बचकर निकल नहीं सकता।

त्वं नः सुराणामसि सान्वयानां

कूटस्थ आद्यः पुरुषः पुराणः ।

त्वं देव शक्त्यां गुणकर्मयोनौ

रेतस्त्वजायां कविमादधेऽजः ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

त्वम्—आप; नः—हम; सुराणाम्—देवताओं के; असि—हो; स-अन्वयानाम्—विभिन्न कोटियों समेत; कूट-स्थः—अपरिवर्तित; आद्यः—बिना किसी श्रेष्ठ के अद्वितीय; पुरुषः—संस्थापक व्यक्ति; पुराणः—सबसे प्राचीन, जिस का कोई और संस्थापक न हो; त्वम्—आप; देव—हे भगवान्; शक्त्याम्—शक्ति के प्रति; गुण-कर्म-योनौ—भौतिक गुणों तथा कर्मों के कारण के प्रति; रेतः—जन्म का वीर्य; तु—निस्सन्देह; अजायाम्—उत्पन्न करने के लिए; कविम्—सारे जीव; आदधे—आरम्भ किया; अजः—अजन्मा।

आप समस्त देवताओं तथा उनकी विभिन्न कोटियों के आदि साकार संस्थापक हैं फिर भी आप सबसे प्राचीन हैं और अपरिवर्तित रहते हैं। हे प्रभु, आपका न तो कोई उद्गम है, न ही कोई आपसे श्रेष्ठ है। आपने समस्त जीव रूपी वीर्य द्वारा बहिरंगा शक्ति को गर्भित किया है, फिर भी

आप स्वयं अजन्मा हैं।

तात्पर्य : आदि पुरुष भगवान्, ब्रह्मा से ले कर अन्य सारे जीवों के पिता हैं। ब्रह्मा से ही विभिन्न योनियों में अन्य सभी जीव उत्पन्न हुए हैं। फिर भी परम पिता का कोई पिता नहीं है। सभी श्रेणियों का प्रत्येक जीव, यहाँ तक कि ब्रह्माण्ड के आदि जीव ब्रह्मा तक, किसी पिता से उत्पन्न हैं, किन्तु भगवान् का कोई पिता नहीं है। जब वे अपनी अहैतुकी कृपा से इस भौतिक जगत में अवतरित होते हैं, तो वे भौतिक जगत के नियमों के अनुसार अपने किसी महान् भक्त को अपना पिता स्वीकारते हैं। चूँकि वे ही स्वामी हैं इस कारण अपने पिता का चुनाव करने के लिए वे सदैव स्वतंत्र होते हैं। उदाहरणार्थ, नृसिंह देव के अवतार में वे एक ख भे से प्रकट हो गये और भगवान् श्रीराम के अपने अवतार में उनके चरणकमलों के स्पर्श से पत्थर से अहल्या प्रकट हो गई। वे परमात्मा रूप में प्रत्येक व्यक्ति के संगी भी हैं, किन्तु वे अपरिवर्तित रहते हैं। भौतिक जगत में जीव अपना शरीर बदलता रहता है, किन्तु भगवान् इस जगत में होते हैं, तो भी सदा अपरिवर्तित ही रहते हैं। यही उनका विशेषाधिकार है।

जैसाकि *भगवद्गीता* (१४.३) में पुष्टि हुई है, भगवान् बहिरंगा या भौतिक शक्ति को गर्भित करते हैं और इस तरह बाद में विभिन्न कोटियों के रूप में, प्रथमदेव ब्रह्मा से लेकर तुच्छ चींटी तक, सारे जीव उत्पन्न होते हैं। जीवों की समस्त कोटियाँ ब्रह्मा तथा बहिरंगा शक्ति द्वारा उत्पन्न की जाती हैं, किन्तु भगवान् हर एक के आदि पिता हैं। भगवान् के साथ प्रत्येक जीव का सम्बन्ध पुत्र-पिता के रूप में होता है, सम-स्तर का नहीं। कभी-कभी प्रेम में पुत्र पिता से बढ़कर होता है, किन्तु पिता तथा पुत्र का सम्बन्ध श्रेष्ठ तथा अधीनस्थ का होता है। प्रत्येक जीव, चाहे वह कितना ही बड़ा क्यों न हो, यहाँ तक कि ब्रह्मा तथा इन्द्र जैसे देवता क्यों न हों, परम पिता का नित्य अधीनस्थ सेवक होता है। महत् तत्त्व सिद्धान्त प्रकृति के सारे गुणों का जनक-स्रोत है। सारे जीव भौतिक प्रकृति माता द्वारा प्रदत्त शरीरों के साथ भौतिक जगत में अपने पूर्व कर्म के अनुसार जन्म लेते हैं। यह शरीर भौतिक प्रकृति का उपहार है, किन्तु आत्मा मूलतः परमेश्वर का अंश होता है।

ततो वयं मत्प्रमुखा यदर्थं

बभूविमात्मन्करवाम किं ते ।

त्वं नः स्वचक्षुः परिदेहि शक्त्या

देव क्रियार्थं यदनुग्रहाणाम् ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

ततः—अतः; वयम्—हम सभी; मत्-प्रमुखाः—महतत्त्व से उत्पन्न; यत्-अर्थ—जिस कार्य के लिए; बभूविम—उत्पन्न किया; आत्मन्—हे परम आत्मा; करवाम—करेंगे; किम्—क्या; ते—आपकी सेवा; त्वम्—आप स्वयं; नः—हम को; स्व-चक्षुः—निजी योजना; परिदेहि—विशेष रूप से प्रदान करें; शक्त्या—कार्य करने की शक्ति से; देव—हे प्रभु; क्रिया-अर्थ—कार्य करने के लिए; यत्—जिससे; अनुग्रहाणाम्—विशेष रूप से कृपा प्राप्त लोगों का।

हे परम प्रभु, महत्-तत्त्व से प्रारम्भ में उत्पन्न हुए हम सबों को अपना कृपापूर्ण निर्देश दें कि हम किस तरह से कर्म करें। कृपया हमें अपना पूर्ण ज्ञान तथा शक्ति प्रदान करें जिससे हम परवर्ती सृष्टि के विभिन्न विभागों में आपकी सेवा कर सकें।

तात्पर्य : भगवान् इस भौतिक जगत की सृष्टि करते हैं और भौतिक शक्ति (प्रकृति) को जीवों से गर्भित करते हैं, जिन्हें भौतिक जगत में कर्म करना है। इन सारे कर्मों के पीछे एक दैवी योजना रहती है। यह योजना है उन बद्धजीवों को इन्द्रियतृप्ति का भोग करने का अवसर प्रदान करना जो उसका भोग करना चाहते हैं। किन्तु सृष्टि के पीछे एक दूसरी योजना होती है। यह है जीवों को यह अनुभव करने में सहायता प्रदान करना कि वे भगवान् की दिव्य इन्द्रियतृप्ति के लिए उत्पन्न किये गये हैं। जीवों की यही स्वाभाविक स्थिति है। भगवान् अद्वय हैं और वे अपने दिव्य आनन्द के लिए अनेक रूपों में विस्तार करते हैं। *विष्णु तत्त्व*, *जीव तत्त्व* तथा *शक्ति तत्त्व* (भगवान् के पुरुषोत्तम-रूप, जीवात्माएँ तथा विभिन्न शक्ति रूपी तत्त्व)—ये सारे विस्तार या अंश एक ही परमेश्वर की विभिन्न प्रशाखाएँ हैं। जीव तत्त्व विष्णुतत्त्व के विच्छिन्न विभिन्नांश है जिनमें सशक्त अन्तर होते हैं फिर भी वे सब परमेश्वर की दिव्य इन्द्रियतृप्ति के निमित्त हैं। किन्तु कुछ जीव भगवान् के प्रभुत्व की नकल में भौतिक प्रकृति पर प्रभुत्व जताना चाहते हैं। शुद्ध जीवों पर ऐसी मनोवृत्तियों ने किस तरह और कब अपना प्रभुत्व जमाया इसकी विवेचना इस तथ्य से की जा सकती है कि जीव तत्त्वों को अत्यल्प स्वतंत्रता प्राप्त है और इस स्वतंत्रता का दुरुपयोग करके कुछ जीव विराट जगत में फँस गये हैं, अतः वे *नित्यबद्ध* कहलाते हैं।

वैदिक ज्ञान का विस्तार भी *नित्यबद्धों* को सुधरने का अवसर प्रदान करता है और जो लोग ऐसे दिव्य ज्ञान का लाभ उठाते हैं, वे भगवान् की दिव्य सेवा करने की लुप्त चेतना को धीरे-धीरे पुनः प्राप्त कर लेते हैं। देवतागण बद्धात्माएँ ही हैं, जिन्होंने भगवान् के प्रति इस शुद्ध चेतना की सेवा को विकसित कर रखा है, किन्तु साथ ही साथ वे भौतिक शक्ति पर अपना प्रभुत्व जताना चाहते रहते हैं।

ऐसी मिश्रित चेतना बद्धजीव को इस सृष्टि के मामलों को व्यवस्थित करने की स्थिति तक पहुँचाती है। देवतागण बद्धजीवों के विश्वस्त नेता है। जिस तरह सरकारी कारागारों के कुछ पुराने बन्दियों को कारागार के प्रबन्ध का उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य सौंप दिया जाता है उसी तरह देवतागण सुधरे हुए बद्धजीव हैं, जो भौतिक सृष्टि में भगवान् के प्रतिनिधियों के रूप में कार्य करते हैं। ऐसे देवता-गण भौतिक जगत में भगवान् के भक्त होते हैं और जब वे संसार पर प्रभुत्व जताने की सम्पूर्ण भौतिक इच्छाओं से पूरी तरह मुक्त हो जाते हैं, तो वे शुद्ध भक्त बन जाते हैं और उनमें भगवान् की सेवा करने के अतिरिक्त कोई अन्य इच्छा नहीं रह जाती। इसलिए जो भी जीव भौतिक जगत में कोई पद चाहता है, वह भगवान् की सेवा में ऐसी इच्छा प्रकट कर सकता है और ईश्वर से शक्ति तथा बुद्धि माँग सकता है जैसाकि इस विशिष्ट श्लोक में देवताओं के उदाहरण से स्पष्ट है। भगवान् से आलोक तथा शक्ति प्राप्त किये बिना कोई कुछ भी नहीं कर सकता। *भगवद्गीता* (१५.१५) में भगवान् कहते हैं *मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*। सारी स्मृति, सारा ज्ञान तथा सारी विस्मृति उन भगवान् द्वारा अभियंत्रित होती है, जो प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में आसीन हैं। बुद्धिमान मनुष्य भगवान् से सहायता माँगता है और भगवान् अपनी नानाविध सेवाओं में लगे निष्ठावान् भक्तों की सहायता करते हैं।

भगवान् ने देवताओं को जीवों के विगत कर्मों के अनुसार विभिन्न योनियों में उत्पन्न करने का कार्यभार सौंप रखा है। वे यहाँ पर भगवान् से अपने-अपने कार्यों को पूरा करने के लिए बुद्धि तथा शक्ति की याचना कर रहे हैं। इसी तरह कोई भी बद्धात्मा दक्ष गुरु के निर्देशन में भगवान् की सेवा में प्रवृत्त हो सकता है और क्रमशः भवबन्धन से मुक्त हो सकता है। गुरु भगवान् का प्रकट प्रतिनिधि होता है और जो कोई भी अपने को गुरु के निर्देशन में रहकर तदनुसार कार्य करता है, वह *बुद्धियोग* के अनुसार कार्य करता हुआ माना जाता है जैसाकि *भगवद्गीता* (२.४१) में बतलाया गया है—

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।

बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध के अन्तर्गत “मैत्रेय से विदुर की वार्ता” नामक पाँचवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

